

❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

❀ धर्मः स्तुष्टितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ❀



❀ नोष्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केव जन्म ॥ ❀

अहेतुक्यप्रतिहता ययारमासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । | सव धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षज की अहेतुकी विष्णुशून्य अति मंगलदायक ॥ | किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ३

गौराब्द ४७१, मास—श्रीधर ५, वार—प्रद्युम्न
मङ्गलवार, ३१ आपाढ़, सम्बत् २०१४, १५ जुलाई १९५७

संख्या २

चातुर्मास्य-व्रतम्

अतःपरं प्रवक्ष्यामि शयनोत्सवमुत्तमम् ।
आषाढीमवधिं कृत्वा हरेः स्वापस्तु कर्कटे ॥१॥
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यावत्स्यात् कार्तिकी द्विजाः ।
अयं पुण्यतमः कालो हरेराराधनं प्रति ॥२॥
चातुर्मास्ये निवसति चेन्ने श्रीपुरुषोत्तमे ।
साक्षादष्टिर्भगवत्स्तनमयं भक्तिसाधनम् ॥३॥
भोगिभोगासने सप्तश्चातुर्मास्येषु वै विभुः ।
सर्वचेत्रेषु सान्निध्यं न करोति जगद्गुरुः ॥४॥
मुक्तिदश्चक्षुषा दृष्टश्चातुर्मास्ये विशेषतः ॥११॥
चातुर्मास्यमयैकं यः कुर्याद् वै पापकृत्तमः ।
विहाय सर्वपापानि बहिरन्तश्च निर्मलः ।
नरसिंह-प्रसादेन वैकुण्ठ-भवनं व्रजेत् ॥१६॥

सस्मान्नरः सर्वभावैर्विष्णोः शयन-पाषितान् ।
 वार्षिकारचतुरो मासान्निवसेत् पुरुषोत्तमे ॥१७॥
 कुर्यादभ्यन्नं वा कुर्याज्जन्मसाफल्यमृच्छति ।
 आषाढ शुक्लैकादश्यां कुर्यात् स्वाप-महोत्सवम् ॥१८॥
 —उत्कलखण्डम् षट्त्रिंशोऽध्याये
 सदा कस्तुं न शक्नोति व्रतानि यदि मानवः ।
 चातुर्मास्यमनुप्राप्य तदा कुर्यात् प्रयत्नतः ॥२०॥
 भू-शय्या-ब्रह्मचर्यञ्च किञ्चित् भक्ष्य-निषेधनम् ।
 एक-भक्तादि-नियमो नित्यदानं स्वशक्तितः ॥२१॥
 पुराण-श्रवणञ्चैव तदर्थाचरणं पुनः ।
 अखण्ड-दीपोद्दीपश्च महापूजेष्टदेवते ॥२२॥

प्रभूतांकुर-बीजाण्ये देशे चापि गतागतम् ।
 यत्नेन वर्जयेद्दीमान् महाधर्मं विवृद्धये ॥२३॥
 असम्भाष्य न सम्भाष्याश्चातुर्मास्य-व्रतस्थितैः ।
 मौनञ्चापि सदा कार्यं तथ्यं वक्तव्यमेव वा ॥२४॥
 निष्पावारिच मसूरांश्च कोद्भवान् वर्जयेद्ब्रती ।
 सदा शुचिभिरास्थेयं स्पृष्टव्यो नाब्रती जनः ॥२५॥
 दन्त-केशाम्बरादीनि नित्यं शोधयानि यत्नतः ।
 अनिष्ट-चिन्ता नो कार्या व्रतिना ह्यपि क्वचित् ॥२६॥
 द्वादशस्वपि मासेषु व्रतिनो यत् फलं भवेत् ।
 चातुर्मास्य-व्रतभृतां तत्फलं स्यादखण्डितम् ॥२७॥
 —काशीखण्डम् षष्टिसप्तमोऽध्याये

अनुवादः—

जैमिनिने कहा—द्विजगण ! अब मैं भगवान् श्रीहरिके अत्युत्तम शयनोत्सवके सम्बन्धमें बतला रहा हूँ । आपलोग श्रद्धापूर्वक श्रवण करें । सूर्यके कर्कटराशिके ऊपर पहुँचने पर प्रतिवर्ष आपाढ़ माहकी एकादशीसे लेकर कार्तिक माहकी एकादशी तक चार महीने भगवान् श्रीहरि शयन किया करते हैं । ये चारों महीने भगवदाराधनाके लिए अत्यन्त पुण्यतम काल है ॥१-२॥

मुनिगण ! अधिक क्या कहूँ, पुरुषोत्तम क्षेत्रमें (पुरीधाममें) वासकर जो मनुष्य चातुर्मास्य-व्रत का पालन करता है, उसके प्रति भगवान्की साक्षात् दृष्टि पड़ती है । क्योंकि भगवान्की भक्तिका साधन तो भगवान्का ही स्वरूप है ॥७॥ सर्वनियन्ता जगद्गुरु भगवान् हरि उक्त चार महीनों तक शेष-शय्याके ऊपर निद्रित रहते हैं । इसी लिये इन दिनोंमें समस्त पुण्यक्षेत्रोंको भगवान्का सान्निध्य प्राप्त नहीं रहता है ॥६॥

दूसरे-दूसरे समयोंकी अपेक्षा उक्त चातुर्मास्य कालमें वे (भगवान्) आँखोंद्वारा देखे जानेपर विशेष रूपमें मुक्ति-प्रद हुआ करते हैं ॥११॥ जो उक्त क्षेत्रमें अर्थात् पुरीधाममें एक वर्ष भी चातुर्मास्य व्रतका पालन करता है, वह अतिशय पापी होनेपर भी समस्त पापोंसे छुटकारा प्राप्तकर बाह्य और अन्तः शुद्धि लाभकर भगवान् नृसिंहदेवकी कृपासे वैकुण्ठ लाभ करता है ॥१६॥

इसीलिए मैं कहता हूँ कि भगवान् अपने शयन द्वारा जिन चार मासोंको पवित्रता प्रदान किया करते हैं, उन चार मासों तक पुरी धाममें वास करना ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ कर्त्तव्य है ॥१७॥ हे तपोधन ! जो व्यक्ति इस मनुष्य जन्मको सफल बनाना चाहता है, वह चाहे कोई भी दूसरा सत्कर्म करे अथवा न करे, उसके लिए पुरी धाममें वासकर आषाढ़ मासकी शुक्ला एकादशीके दिन भगवान्का शयन-महोत्सव अवश्य करना चाहिए ॥२॥

—उत्कलखण्ड ३६ वें अध्यायसे

यदि कोई मनुष्य समस्त व्रतोंको पालन करनेमें असमर्थ है, तो उसे यत्नपूर्वक चातुर्मास्य-व्रतका पालन करना चाहिए ॥२०॥ चातुर्मास्यव्रतका पालन करनेवाले व्यक्तियोंको जमीन पर सोना चाहिए, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना चाहिए, अल्प आहार करना चाहिए, अथवा एकभक्तादि-नियमका पालन करना (नित्यप्रति एक वैष्णवको भोजन कराकर स्वयं भोजन करना) चाहिए और प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार दान देना चाहिए ॥२१॥ व्रतधारण करनेवाले व्यक्तिको पुराण-श्रवण करना चाहिए और उसके अनुसार आचरण करना चाहिए । अखण्ड-दीप दान करना तथा अपने इष्ट-देवकी विधिवत् पूजा करनी चाहिए ॥२२॥

उनको धर्मकी वृद्धिके लिए अंकुर और बीजयुक्त स्थानोंमें आना-जाना यत्नपूर्वक बन्द करना चाहिए ॥८३॥ चातुर्मास्य व्रतका पालन करनेवाले व्यक्ति उस व्यक्तिके साथ कभी भी बातचीत न करेंगे, जो संभाषण करनेके अयोग्य हैं। वे सर्वदा मौन रहेंगे अथवा सत्य वचन बोलेंगे ॥८४॥

वे सर्वदा पवित्र रहेंगे, व्रतका आचरण न करनेवाले व्यक्तियोंका स्पर्श न करेंगे। वे निष्पाव (एक प्रकारका धान) एवं मसूरी और कोदोका अन्न त्याग करेंगे ॥८५॥ प्रतिदिन यत्नपूर्वक अपने दाँतोंको, बालोंको तथा कपड़ोंको साफ करना चाहिए। हृदयमें किसीके अनिष्टकी कोई भी कामना नहीं करनी चाहिए ॥८६॥

बारह महीनों तक अन्यान्य व्रतोंका आचरण करनेवाले व्यक्तिको जो फल प्राप्त होता है, चातुर्मास्य-व्रतका आचरण करनेवाला भी ठीक वही फल प्राप्त करता है ॥८७॥

—काशीखंड ६० वें अध्यायसे

चातुर्मास्य

शास्त्रोंमें उल्लेख

वेदोंमें जगद्-जगद् चातुर्मास्य-व्रतका उल्लेख पाया जाता है। इनमें अनेक स्थलों पर इसे कर्मका अङ्ग माना गया है। धर्मशास्त्रोंमें भी चातुर्मास्य-व्रतकी व्यवस्थाका अभाव नहीं है। पुराणोंमें तो इसकी बड़ी महिमा बतलाई गई है।

आधुनिक स्मृति सम्बन्धी पुस्तकों और निबन्धोंमें भी चातुर्मास्य-व्रतका अनेक रूपोंमें विधान पाया जाता है। 'हरिभक्तिविलास' नामक परमार्थ स्मृति-शास्त्र और रघुनन्दन द्वारा रचित 'कृत्य-तत्त्व' ग्रन्थमें भी हम इस व्रतका विधान देख पाते हैं।

कर्मी, ज्ञानी और भक्त सबके लिये

चातुर्मास्यका विधान

क्या कर्मी, क्या ज्ञानी और क्या भक्त सभीको चातुर्मास्य व्रतका पालन करना चाहिये। कोई-कोई इसे केवल कर्मकाण्डीय व्यापार मानते हैं। किन्तु उनका ऐसा समझना पूर्णतः निराधार है। काठक सूत्रोंमें यति-धर्मका निरूपण करते हुए कहते हैं—

एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पंचरात्रकम्।

वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥

एकदण्डी ज्ञानीजन और त्रिदण्डी भक्तजन दोनों

ही चातुर्मास्यका पालन करते हैं। श्रीशङ्कर मतावलम्बियोंमें भी चातुर्मास्य-व्रतकी व्यवस्था है।

चातुर्मास्य-व्रत और श्रीचैतन्यमहाप्रभु

भगवान् श्रीचैतन्यदेवने भी कावेरीके तटपर स्थित श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें चातुर्मास्यके चार महिने बिताये थे। श्रीगीर्डीय भक्तजन प्रति वर्ष चातुर्मास्यके दिनोंमें श्रीपुरीधाममें श्रीमन्महाप्रभुके साथ रह कर नियमित रूपमें हरिसंकीर्त्तन, हरि-चर्चा, वैष्णव-सेवा और भगवत् पूजनमें बिताया करते थे।

चारों आश्रमके प्रत्येक हिन्दूके लिये

चातुर्मास्यका विधान है

शास्त्रोंमें चारों आश्रमोंके हिन्दूमात्रके लिये चातुर्मास्य-पालनकी व्यवस्था दी गई है। किन्तु बहुत ही कष्टसाध्य होनेके कारण ये प्राचीन रीतियाँ समाजके क्षेत्रसे क्रमशः दूर होती चली जा रही हैं। यद्यपि कर्मी और भक्त-सम्प्रदायोंमें व्रतोंके पालन करनेकी विधियाँ कुछ-कुछ भिन्न हैं, तथापि प्रत्येक हिन्दू इन व्रतोंके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और आदरका भाव रखता है।

चातुर्मास्यमें भोगोंका त्याग ही आदर्श है

इस व्रतमें समस्त प्रकारके भोगोंका सर्वथा त्याग

करना ही विधि है । कर्मी, ज्ञानी और भक्त—इन सभी समाजोंके लोग त्यागको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं । किन्तु किसी समाजमें यह श्रद्धाका भाव कुछ अधिक होता है और किसीमें कुछ कम । अतः इन तीनों पथोंमें विचरण करनेवाले आर्यगण अपने चारों आश्रमोंमें ही चातुर्मास्य-व्रतका सम्मान करते हैं । जो नितान्त असमर्थ होते हैं, वे इतने दीर्घकाल तक इन कठोर नियमोंके अधीन रहना लाभदायक नहीं मानते । इसलिये वे इन व्रतोंके पालनमें शिथिलता प्रदर्शन करते हैं ।

गृहस्थोंके भोगोंके विधानका उद्देश्य— त्यागसे है

ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमोंमें भोगका तनिक भी आदर नहीं है । केवल गृहस्थोंके लिये शास्त्रोंमें किंचिन्मात्र भोगोंका विधान देखा जाता है । किन्तु वास्तवमें इन लोगोंके लिये निर्दिष्ट भोगोंका उद्देश्य भी त्याग ही होता है । जिन लोगोंके लिये बारह महीनोंमेंसे आठ महीने तक गृहस्थ-धर्मका पालन करनेकी विधि दी गई है, उन्हें चार महीने तक भोगोंसे सर्वथा दूर रह कर अन्य तीन आश्रमवासियोंके सङ्गमें विताना ही उचित है ।

जो चार महीनों तक नियम-सेवा पालन करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें उर्जाविधि अर्थात् कार्तिक-व्रतका अवश्य ही पालन करना चाहिये । कोई-कोई भक्त चातुर्मास्यके चार महीनोंतक नियमितरूपमें विधियोंके पालनमें अपनेको असमर्थ पाकर केवलमात्र दामोदर व्रतका ही पालन करते हैं । उनको ऐसा करते देख कर कोई ऐसा न समझें कि भक्तोंके लिये चातुर्मास्य-व्रत पालन करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है । वैसा आचरण केवलमात्र असमर्थ व्यक्तियोंके लिये अनुकूल विधिमात्र समझना चाहिये । चार मास तक नियम-सेवाके अधीन रह कर भगवत्सेवा करनेसे मनकी निसर्गतः धर्मके प्रति (हरिसेवाके प्रति) प्रवृत्ति उदित होती है ।

चातुर्मास्यकासमय निरूपण

चातुर्मास्यका समय निरूपण करते हुए वाराह-पुराणमें लिखते हैं—

“आषाढ-शुक्लद्वादश्यां पूर्णिमास्यामथापि वा ।
चातुर्मास्य-व्रतारम्भं कुर्यात् कर्कट-संक्रमे ॥
अभावे तु तुलाकेंऽपि मन्त्रेण नियमं व्रती ।
कार्तिके शुक्लद्वादश्यां विधिवत्तत् समापयेत् ॥”

चातुर्मास्यकी गणना तीन प्रकारसे की जाती है—

(१) आषाढ मासकी शुक्लद्वादशीसे कार्तिक मासकी शुक्लद्वादशी तक चार चान्द्रमास, (२) आषाढकी पूर्णिमासे कार्तिककी पूर्णिमा तक चार चान्द्रमास, और (३) कर्कट संक्रान्ति अर्थात् सौर भावण माससे सौर कार्तिक मासतक चार मास । इन तीनोंमेंसे किसी एकके अनुसार चार महीनोंतक चातुर्मास्य-व्रतके नियमोंका विधिवत् पालन करना चाहिये । जो लोग चार महीनोंतक इसके नियमोंका विधिवत् पालन करनेमें असमर्थ हों, उन्हें कार्तिक मासमें एक महीने भर अपने इष्टमन्त्रके जाप आदि नियमोंका विधिवत् पालन करना उचित है । विशेषतः उर्जव्रतका पालन करना अवश्य कर्त्तव्य है, क्योंकि उर्जव्रतको ६४ प्रकारकी भक्तिका एक अङ्ग माना गया है । कार्तिक शुक्ल द्वादशीको उर्जव्रतकी समाप्ति कर देनी चाहिये । अर्थात् २५ दिनोंतक तो अवश्य ही इस व्रतका पालन करना चाहिये ।

हरि-शयन कालमें चातुर्मास्य-व्रतका पालन न करनेका परिणाम

श्रीभगवान् वर्षाके चार महीने शयन करते हैं । इस शयन कालमें कृष्ण-सेवाकी प्रवृत्तिको क्रमशः वर्द्धित करनेके लिये चातुर्मास्य-व्रतका पालन करना चाहिये । यह एक नित्य-व्रत है । इस व्रतका पालन नहीं करनेसे पाप लगता है ।

इत्याश्वास्य प्रभोरग्रे गृह्णीयाद्वियमं व्रती ।
चतुर्मासेषु कर्त्तव्यं कृष्णभक्तिवृद्धये ॥

(हरिभक्तिविलास १५।५६)

अर्थात्, व्रती व्यक्ति 'हे जगन्नाथ ! आपके शयन करने पर यह सारा जगत् सोता है एवं आपके जगने पर जगता है । हे अच्युत् ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों ।'—भगवान्के आगे इस प्रकार प्रार्थना कर कृष्ण-भक्तिकी वृद्धिके लिये इन चार महीनों तक नियम-सेवाका व्रत ग्रहण करना चाहिये ।

यो विना नियमं मर्त्यो व्रतं वा जप्यमेव वा ।

चातुर्मास्यं नयन्मूर्खो जीवन्नपि मृतो हि सः ॥

(हरिभक्तिविलास १५।६०)

अर्थात् जो व्यक्ति कोई नियम या व्रत धारण किये बिना अथवा जगदिसे रहित होकर चातुर्मास्यका समय यों ही बिता देता है, वह मूर्ख व्यक्ति जीवित रह कर भी मरेके समान है ।

व्रतमें ग्रहणीय और वजनीय बातें

व्रतके पालनीय विधियोंके सम्बन्धमें स्कन्दपुराण-में इस प्रकार कहा गया है—

जप-होमाद्यनुष्ठानं नाम-संकीर्त्तनस्तथा ।

स्वीकृत्य प्रार्थयेद्देवं गृहीतनियमो बुधः ॥

(हरिभक्तिविलास १५।६५)

अर्थात्, व्रतको धारण करने वाले बुद्धिमान व्यक्ति होम आदिका अनुष्ठान और श्रीनाम संकीर्त्तन करेंगे । उन्हें भगवान्के निकट ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे देव ! मैं आपके सामने यह व्रत धारण कर रहा हूँ । हे केशव ! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरा यह व्रत बिना किसी विघ्न-बाधाके सिद्ध हो जाय ।'

अथ इस व्रतकी वर्जनीय बातोंका उल्लेख करते हैं—

श्रावणे वर्जयेत् शाकं दधि भाद्रपदे तथा ।

दुग्धमाश्वयुजे मासि कार्तिके चामिषं त्यजेत् ॥

(ह० भ० वि० १५।६१ संख्या धृत स्कन्द पुराण)

—चातुर्मास्यके प्रथम भागमें अर्थात् श्रावण मासमें शाक, भाद्रमें दधि, आश्विनमें दुग्ध और कार्तिकमें आमिष अर्थात् मांस जातीय वस्तुओंका परित्याग करना चाहिये । कोई-कोई शाकसे पकाये हुए व्यञ्जन मानते हैं । सारांश यह कि समस्त प्रकार-

के भोगोंको त्याग कर निरन्तर हरि-संकीर्त्तन करना चाहिये ।

“रुच्यं तत्तत्काल-लभ्यं फल-मूलादि वर्जयेत् ।”

समयोचित फल-मूल कन्द आदि खानेसे जीवन धारण तो होता है, किन्तु अधिक मात्रामें इनका सेवन करनेसे भगवत् स्मृति मन्द हो जाती है तथा जड़ विषयोंमें अतिशय आसक्ति बढ़ जाती है । इस-लिये चातुर्मास्यमें इन सबका परित्याग कर संयत होकर हरि-कीर्त्तन करना चाहिये ।

एक ही साथ नाना प्रकारके त्याग संभव नहीं हैं । अतः सामर्थ्यवानोंके लिये अधिक से अधिक जितना त्याग संभव हो, उतना ही अच्छा है । कर्मालोगोंमें विषय-भोगकी लालसा अधिक होती है । इसीलिये विषय-भोगकी लालसाके त्यागका शास्त्रोंमें बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है । सारांश यह कि त्याग द्वारा विषयोंके प्रति आसक्ति कुछ संकुचित होनेपर भगवदनुकम्पाका सुयोग उपस्थित होता है । आत्म-धर्म या नित्य भगवत्-सेवन धर्मको प्रस्फुटित करनेके लिये अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल शरीर और मनका धर्म जितना ही अधिक संकुचित किया जा सके, उतना ही मङ्गल-जनक है । क्योंकि शरीर और मनका धर्म जितना ही संकुचित होगा, साधकका हरिसेवामें उतना ही अधिक उसाह बढ़ता जायगा ।

विधि

चातुर्मास्यके दिनोंमें जमीनपर सोना चाहिये, पत्तलमें भोजन करना चाहिये । हो सके तो प्रतिदिन शामको एक वक्त भोजन करना चाहिये । प्रतिदिन स्नान अवश्य करना चाहिये तथा नियमसे रह कर भगवान्की प्रतिदिन विधिवत् पूजा करनी चाहिये ।

व्रतीको योगका अभ्यास करना चाहिये । समस्त प्रकारके योगोंमें भक्तियोग श्रेष्ठ है, क्योंकि भक्ति आत्माकी नित्य वृत्ति है । राजयोग अर्थात् ज्ञानयोग—मनकी एक अनित्य वृत्ति है तथा कर्मयोग या हठयोग—शरीर और मनकी मिश्रित एक दूसरी अनित्य वृत्ति है । अतः भक्तियोगका अभ्यास ही श्रेयस्कर है ।

इन चार महीनों तक मौन-व्रत अवलम्बन करनेसे विशेषरूपमें हरिकर्त्तनका सुयोग पाया जाता है। जमीन पर सेने और बिना पात्रके भोजन करनेसे हृदयमें एक प्रकारका स्वाभाविक दैन्य उत्पन्न होता है, जो हरिसेवाके लिये बड़ा ही उपयोगी और अनुकूल होता है। चातुर्मास्यकी समस्त विधियोंको अनुकूल कर लेने पर भजनमें अत्यधिक सहायता मिलती है।

इन सब नियमोंके अतिरिक्त नक्त भोजन (रातमें तारोंको देख कर जो भोजन किया जाता है), पंच गव्य (गायसे प्राप्त होनेवाले पाँच द्रव्य-दूध, दही, घृत, गोबर और गोमूत्र) का भोजन, तीर्थ-स्नान, अयाचित भोजन, भगवान्के मन्दिरमें संकीर्तन, वहाँ शास्त्रोंका पठन-पाठन या श्रवण, बिना तेल लगाये स्नान आदि विधियोंका नियम पूर्वक पालन करना चाहिये।

निषेध

व्रतके दिनोंमें सेम, बरबटी, परवल, बैंगन तथा वासी और दूषित अन्नका परित्याग करना चाहिये। सामर्थ्यवान् व्रतीको नमक, तेल, मधु, पुष्पोंका उपभोग तथा कटु, अम्ल, तिक्त, मधुर, क्षार कापाय आदि रसोंको त्याग देना चाहिये। प्याज, लहसुन, नागर-मोथा, छत्री, गाजर, मूली, लौकी, उरद, मसूर, मद्य, माँस और ताम्बूलका वर्जन करना चाहिये। हो सके

तो पकाए हुए द्रव्योंका भोजन और मिट्टीके वर्त्तनमें पकाये हुए पदार्थोंका भोजन न करना चाहिये तथा दही, दूध और मक्खनका भी परित्याग कर देना चाहिये। एक दिन अन्तर एक दिन उपवास करना व्रतम है। नख और केश आदि कटवाना नहीं चाहिये। क्योंकि इनसे विलासिता बढ़ती है।

शास्त्रोंमें चातुर्मास्यका बड़ा माहात्म्य बतलाया गया है। किन्तु ये समस्त फल उन कर्मियोंको भक्तिकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये ही कहे गये हैं, जो सर्वदा कर्म फलमें आसक्त रहा करते हैं तथा भगवद्भक्तिके प्रति उदासीन रहते हैं। जिस प्रकार एक रंगी बालकको लड्डू का लोभ दिखला कर दबा दी जाती है, ठीक उसी प्रकार कर्मकाण्डमें आसक्त व्यक्तियोंको बड़े-बड़े फलोंका लोभ दिखलाकर भक्तिमार्गमें क्रमशः प्रवेश कराया जाता है। ज्ञानी और भक्तोंको लौकिक और पारत्रिक (स्वर्ग) किसी भी फलकी कामना नहीं होती। भक्तोंको तो ज्ञानियोंके काम्य--मुक्ति-फलकी भी कामना नहीं करनी चाहिये। भगवद्भक्ति होने पर मोक्षकी वासना भी अत्यन्त घृणित प्रतीत होने लगती है। सम्पूर्णरूपसे विशुद्ध कृष्णसेवाकी प्राप्ति ही चातुर्मास्यका चरम फल है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

सिद्धि-लालसा

प्रभु हो ऐसे दिन कब अइहों ।
गौरवास सुरधुनी तट पै कब छाडि देह सुख, जइहों ॥
लता विटप डारन के नीचे रोइ-रोइ नित पछितइहों ।
हा राधे ! हा कृष्ण कृष्ण कहि विकल पुकार मचइहों ॥
खाई कबहुँ स्वरच गृह भिन्ना सरस्वती पय पइहों ।
कृष्ण कृष्ण कहि पुलिन पुलिन तट लोटी जन्म बितइहों ॥
ब्रजवासिन की कृपा लेश कब नत होई याचन करिहों ।
होई अवधूत चरण-वैष्णव-रज कब सुखसो सिर धरिहों ॥
गौर धाम औ ब्रज काननमें जवहि भेद नहीं लइहों ।
है दासी राधा रानी की तबही अनत सुख पइहों ॥

—ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

उत्साह

श्रीरूप गोस्वामीने अपने 'उपदेशामृत' में अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प, नियमाग्रह, जनसंग और लौल्य—इन छःहोंको भक्तिका बाधक बतलाया है। इनके विषयमें पृथक्-पृथक् रूपमें विवेचन किया गया है। सम्प्रति तीसरे श्लोकमें वे भक्ति-साधक छः विषयों का वर्णन कर रहे हैं।

“उत्साहान्निश्चयाद्वात् तत्तत्-कर्म-प्रवर्त्तनात् ।

सङ्ग-त्यागात् सतोवृत्तेः षडभिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति ॥”

—इन छःहों विषयोंका विवेचन अलग-अलग रूपमें होना आवश्यक है। अतएव यहाँ उत्साहके सम्बन्धमें लिखा जा रहा है—

उत्साह कहते किसे हैं ?

उत्साहके अभावमें भजन-क्रिया शिथिल पड़ जाती है। जाड्य आलस्य या निर्वेदसे शिथिलता पैदा होती है। आलस्य और जड़ताको ही जाड्य कहते हैं। उत्साह पैदा होनेपर अलसता और जड़ता दूर हो जाती हैं। चित्त-धर्मके विपरीत अवस्थाका नाम 'जड़ता' है। अतएव जड़ताको शरीर या हृदयमें स्थान देनेसे भजन किस प्रकार संभव हो सकता है ? यत्नके अभावमें उदासीनता पैदा होती है।

भक्तियोगका साधन अनिर्विण्ण चित्तसे करना होता है। गीताकी यही आज्ञा है:—

तं विद्याद् दुःख-संयोग-वियोगं योग-संज्ञितं ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण-चेतसा ॥ (६।२३)

इस श्लोकके भाष्यमें श्रीवलदेव विद्याभूषण महाशयजीने कहा है—“आत्मग्न्य-योग्यत्व-मननं निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा।” जिस कार्यके लिए अपनेको अयोग्य समझा जाता है, उसी कार्यमें निर्वेद उपस्थित होता है। उस प्रकारके निर्वेदसे सर्वथा रहित होकर

उत्साहपूर्वक भक्तियोगका साधन करना चाहिए। भक्तियोगके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा गया है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यामिनामिह कर्मसु ।

तेश्वनिर्विण्ण-चित्तानां कर्मयोगस्तु कर्मिणाम् ॥

यद्वृद्धया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

न निर्विण्णो नातिशक्तो भक्तियोगोऽस्थ सिद्धिदः ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।७-८)

—उद्धवजी ! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख-बुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं ॥७॥ जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीलाकथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है ॥८॥

परमार्थ-साधनके प्रकारभेद—ज्ञानयोग, कर्म-योग और भक्तियोग

परमार्थ-साधक चित्तकी अवस्थाओंके तारतम्यानुसार तीन प्रकारके होते हैं—(१) निर्विण्ण-चित्तवाले, (२) अनिर्विण्ण चित्तवाले और (३) निर्वेद अर्थात् आसक्तिरहित चित्तवाले साधक। योग भी तीन प्रकारका होता है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। निर्विण्ण चित्त अर्थात् कर्म और कर्म-फलोंसे विरक्त पुरुषोंके लिए ज्ञानयोग श्रेयः होता है। अनिर्विण्णचित्त अर्थात् कामनायुक्त पुरुष कर्मयोगके अधिकारी हैं तथा अनिर्विण्ण और अनासक्त पुरुषोंको सौभाग्यवश जब मेरी लीला-कथादिके प्रति श्रद्धा

उत्पन्न हो जाती है, तब वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

तात्पर्य यह कि—जो केवल जड़ीय कर्मोंके प्रति विरक्त तो हो गये हैं, किन्तु जड़ातीत अप्राकृत क्रिया की अनुभूति प्राप्त नहीं कर सके हैं, उनके चित्तमें सिवा कोरी विरक्तिके और रह ही क्या सकती है? निर्भेद ब्रह्मज्ञान ही उनके लिए चरम प्राप्तिका विषय होता है।

जिनको न तो जड़ीय कर्मोंके प्रति विरक्ति ही है और न जड़ातीत चिन्मय क्रियाकी अनुभूति ही प्राप्त है, उनके लिये चित्त शुद्धिकारक कर्मयोगके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

जिन्होंने जड़ीय कर्मोंको अत्यन्त हेय समझ लिया है तथा जिन्हें चिन्-क्रियाकी अनुभूति भी प्राप्त हो गयी है, वे समस्त जड़ कर्मोंके प्रति उदासीन होकर भी चिदानुभूति उदित करानेके लिए कुछ-कुछ जड़-कर्मोंको सहायकके रूपमें अङ्गीकार करते हैं। किन्तु उन कर्मोंमें उनकी आसक्ति नहीं होती। भक्तिपूर्वमें जितनी ही अधिक चिदालोचना होगी, जड़ विषयोंसे उतनी ही अधिक मुक्ति मिलती जायगी। जड़ विषयों से मुक्त होना—भक्तिका आवान्तर फल है। श्रीमद्-भागवतमें भक्ति-योगियोंका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विचणः सर्व-कर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालु-हृदनिश्चयः ।
जुषमाणश्च वान् कामान् दुःखोदकीर्षच गर्हयन् ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।२७-२८)

काम (कामना) से कर्मका, निर्वेदसे ज्ञानका और भगवन् सम्बन्धी श्रद्धासे भक्तिका उदय होता है।

भक्तयोगीका आचरण

श्रद्धावान् पुरुष स्वभावतः समस्त जड़-कर्मोंसे विरक्त होता है। वह केवल उन्हीं कर्मोंको उतनी ही मात्रामें अङ्गीकार करता है, जो कर्म जितने अंशोत्क भागवती श्रद्धाके अनुकूल पड़ते हैं। शरीर नहीं रहने

से भक्तिका साधन नहीं होता। शरीरकी रक्षाके लिए जिन-जिन कर्मोंकी आवश्यकता होती है, उन दुःखात्मक काम-कर्मोंका परित्याग करनेसे शरीरकी रक्षा कैसे हो सकती है? और शरीर नष्ट होनेसे साधन संभव नहीं। इसलिए साधारण लोगोंके लिए दुःख-फल-जनक कर्मोंको हेय जानकर निन्दा करते-करते अनासक्त भावसे भोगना तथा उनसे जीवन निर्वाह करते हुए दृढ़ विश्वाससे युक्त होकर भक्तियोग द्वारा मेरा भजन करना ही कर्तव्य है। जो जड़ कर्मोंके द्वारा प्राप्त विषय-भोगरूप फलका अतिशय आदरके साथ भोग करते हैं, वे कर्मासक्त कहलाते हैं। किन्तु कर्म फलके प्रति अनादरका भाव रखकर उनमें स्थित भगवद्भक्ति-साधक वृत्तिका आदर करते हुए जो भक्तिके अनुकूल कर्मोंको स्वीकार करते हैं, वे अनासक्त कहलाते हैं। ये लोग कर्मोंमें तो अनासक्त होते हैं, किन्तु भक्तिके विषयमें परम उत्साहसे कार्य करते हैं।

भक्ति-साधकोंकी क्रमोन्नति

अथ भगवद्भक्तिके साधकोंकी क्रमोन्नतिके सम्बन्धमें कहते हैं—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥
भिष्यते हृदय-ग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य-कर्माणि मयि हृदोऽखिलात्मनि ॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।२६, २७, २८)

—इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं।

जीवोंके लिए यही निरपेक्षतारूप सबसे श्रेष्ठ और महान निःश्रेयस (परम कल्याण) है।

तात्पर्य यह कि हृदयके अन्दर अवस्थित काम-रोग तथा अविद्याको दूर करनेके लिए कोई दूसरी चेष्टा करनी निरर्थक है। भगवदनुशीलन रूप भक्तियोगका अवलम्बन करनेसे अविद्या, काल, कर्म, जीवोंका समस्त संशय और कर्म-बन्धन सब कुछ भगवान्की कृपासे दूर हो जाता है। किन्तु ज्ञान और कर्मसे ऐसा नहीं होता। इसीलिए अन्यान्य कामनाओं और आशाओंका परित्याग कर निरपेक्ष होनेपर हृदयमें शुद्धा-भक्ति उदित होती है।

भजन-क्रिया दो प्रकारकी होती है—

निष्ठिता और अनिष्ठिता

हममें कर्मका नाश करनेकी शक्ति नहीं है—ऐसा सोचकर हमें निरुत्साहित होना अनुचित है। भक्तिके प्रारम्भमें ही साधकमें उत्साहसे युक्त श्रद्धा होनी आवश्यक है। किसी विशुद्ध भक्तिके आचार्यका कथन है कि भजन क्रिया दो प्रकारकी होती है—निष्ठिता और अनिष्ठिता। साधु-संगमें श्रद्धापूर्वक भजन करते-करते निष्ठा उत्पन्न होने पर भजन-क्रियाकी संज्ञा 'निष्ठिता' होती है। जबतक निष्ठिता-भजन-क्रिया आरंभ नहीं होती, तबतक 'अनिष्ठिता भजन-क्रिया ही चलती रहती है। इस भजन-क्रियामें उत्साहमयी, घन-तरला, व्यूढ-विकल्पा, विषय-संगरा, नियमाक्षमा, और तरंग-रङ्गिणी—ये छः अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं।

अनवधान-रूप अपराध

'हरिभक्ति-विलास' में 'प्रमाद' को एक प्रकारका नामापराध माना गया है। उसी ग्रन्थमें 'प्रमाद' शब्दका अर्थ 'अनवधानता' बतलाया गया है। 'श्रीहरिनाम-चिन्तामणि' ग्रन्थमें उक्त अनवधानताके तीन भेद कहे गये हैं—उदासीनता, जड़ता और विक्षेप। जबतक इन तीनों अनवधानोंसे छुटकारा

न मिल जाय, तबतक किसी भी दशामें हरि भजन नहीं बन सकता। दूसरे-दूसरे समस्त अपराधोंके दूर होनेपर भी जबतक अनवधानता वर्तमान रहती है, तबतक हरिनाममें कदापि रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती। भजनके प्रारंभमें यदि उत्साह रहे और वह उत्साह यदि शिथिल न हो जाय, तब नाम-भजनमें कभी भी औदासिन्य, आलस्य या विक्षेप पैदा नहीं हो सकते। अतएव उत्साह ही समस्त भजनोंका सहायक है।

उत्साहमयी भजन-क्रियासे ही क्रमशः निष्ठा उत्पन्न होती है।

भजन-क्रिया उत्साहमयी होनेसे अल्पकालमें ही अनिष्ठिता धर्म दूर कर वह निष्ठा-अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

“आदौ श्रद्धा ततः साधु-सङ्गोऽथ भजन क्रिया ।
ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा क्वचित्ततः ॥”

अर्थात्, श्रद्धाके उदय होनेपर भजनमें अधिकार उत्पन्न होता है। भजनाधिकार उत्पन्न होनेपर साधुसंग होने लगता है। साधुसंगमें भजन-क्रिया प्रारंभ होती है। पहले पहल भजनमें निष्ठा नहीं रहती, क्योंकि उस समय दूसरे-दूसरे अनर्थ हृदयमें भरपूर रहते हैं। उत्साहके साथ भजन करनेसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं।

उत्साह ही श्रद्धाका जीवन है

'श्रद्धा' शब्दसे विश्वासका बोध तो होता है, किन्तु श्रद्धाका जीवन उत्साह ही है। उत्साह-रहित श्रद्धाकी कोई क्रिया नहीं होती। अधिकतर लोग ऐसा सोचते हैं कि वे ईश्वरके प्रति श्रद्धा रखते हैं। किन्तु उस विषयमें उत्साहका अभाव रहनेसे उनकी श्रद्धा कार्यकरी नहीं होती। अतएव साधुसंगके अभावमें उनका भजन नहीं हो पाता।

—ॐ विष्णुपाद श्रीभीमदुर्भक्तिविनोद ठाकुर

गीताकी वाणी

बारहवाँ अध्याय

भगवान्ने सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्याय तक शक्तिकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है— पहिले अध्यायोंमें कहीं-कहीं निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनाका भी प्रसङ्ग यदाकदा आ पड़ा है। अतः अर्जुन अपना संशय दूर करनेके मिस जगत् कल्याणके लिये भगवान्से जिज्ञासा करते हैं—“भगवन् ! निर्विशेष-निराकार ब्रह्मकी और सविशेष—सगुण-साकार भगवान्की उपासना करनेवाले दोनों प्रकारके उपासकोंमें उत्तम उपासक कौन है ?”

भगवान् भक्तोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए उत्तर देते हैं—“जो मुझ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें चित्तको एकाग्र करके निरन्तर मेरे परायण होकर अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर केवलमात्र मेरी ही उपासना करते हैं, वे समस्त प्रकारके योगियों और उपासकोंमें श्रेष्ठ है। किन्तु मुझ श्रीकृष्णके प्रति श्रद्धालु न होकर जो निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना अतिशय कष्टप्रद होती है। अव्यक्त ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले उपासक वैसी उपासनामें सिद्धि प्राप्त करके भी भगवत् स्वरूपका साक्षात्कार न करनेके कारण दुःख ही प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि जो देहाभिमानी जीव जन्मसे लेकर अब तक इस भौतिक शरीरमें ही आत्मबुद्धि करता आया है, उसके लिये अचानक मन बुद्धिसे परे, अकथनीय, चैतन्य स्वरूप, कुटस्थ, अचल, अचिन्त्य और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म ब्रह्मका बोध होना बड़ा ही कठिन होता है। तिस पर भी इस अव्यक्त ब्रह्मकी उपासनामें प्रत्याहार, मनन, निदिध्यासन आदि साधन प्रणालियाँ देहाभिमानी जीवके लिये अत्यन्त कठिन हैं। अतएव ऐसी उपासना आतिशय क्लेशजनक है। परन्तु जो अपने समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण कर मेरे परायण

हुए और श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका नियमपूर्वक आचरण करते हुए अनन्य भक्तियोगसे मुझको निरन्तर भजते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंको मैं शीघ्रही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार कर देता हूँ।

भगवान्ने अव्यत्र भी कहा है—

नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना ।

गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः ॥

—मैं अपने भक्तोंको गरुडकी पीठपर चढ़ाकर सुखपूर्वक अपने परमधाममें ले जाया करता हूँ। उनको अर्चिरादि मार्गोंसे होकर जाना नहीं पड़ता है। इस अर्चिरादि मार्गका वर्णन आठवें अध्यायमें किया गया है।

अतएव भगवान्के चरणोंमें मन लगानेसे तथा उनमें ही बुद्धि स्थिर करनेसे मृत्युके उपरान्त उनके ही निकट निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है।

यद्यपि भगवान्में चित्तको स्थिर करना अतीव कठिन कार्य है, तथापि अभ्यास योगके द्वारा ऐसा किया जा सकता है। भक्तोंके सङ्गमें भगवत् कथाके श्रवण और कीर्त्तनादि द्वारा वैसा अभ्यास सुगम होता है। वैसे अभ्यासमें असमर्थ होनेपर भगवत् कर्मोंके परायण होना कर्त्तव्य है। इन्द्रियोंके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंको भगवत् प्रीतिके उद्देश्यसे किये जाने पर—भगवान्की सेवाके लिये पुष्पादि चयन, पूजन, श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका आचरण करनेसे भगवान्में धीरे-धीरे चित्त लगता है और अन्तमें उनको प्राप्त भी किया जा सकता है।

भगवत्-कर्मके परायण होनेमें असमर्थ होनेपर सब कर्मोंका फल त्याग करना ही विधि है। प्रथम छः

अध्यायोंमें इस प्रसंगपर प्रकाश डाला गया है। शेषोक्त सब कर्मोंके फलका त्याग करना, भगवत् कर्मके परायण होनेसे हेय और कठिन साधन है। फलकी कामनासे रहित होकर कर्म करना मनुष्यमात्रके लिये कठिन है। उसकी अपेक्षा भक्तियोगका अनुष्ठान अतिशय सहज और सरल है। समस्त प्रकारके साधनोंमें फलोंमें अनासक्त होकर किया गया कर्म ही श्रेष्ठतम साधन है। भगवान् इसी सिद्धान्तको व्यतिरेक भावसे पुष्ट कर रहे हैं। अभ्यास योगसे ज्ञानयोग श्रेष्ठ है। विवेक द्वारा हृदयमें भगवत्तत्त्वको प्रणिधान करके उनमें चित्तको एकाग्र करना ही ज्ञान है। ज्ञान परिपक्व होनेपर ध्यान सम्भव होता है। ध्येय वस्तुके चित्तनके अतिरिक्त हृदयमें कोई भी दूसरी चिन्ताके न रहनेकी अवस्थाका नाम ही ध्यानावस्था है। ऐसे ध्यानकी अपेक्षा कर्म-फलके त्यागका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करनेका गूढ़ तात्पर्य यह है कि फलकी कामनासे रहित कर्मजन कार्य-कारणका अनुसंधान न कर—अथवा कर्मके फलोंकी चिन्ता न कर भोग-वासनाका भी परित्याग कर केवलमात्र कर्मका अनुष्ठान करते हैं। ऐसे कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्त शुद्ध होनेपर ज्ञानका आविर्भाव होता है एवं ध्यान आदि साधन-समूह क्रमशः सहज हो पड़ते हैं। अंतएव नितान्त विवेक-शून्य जीव-समूह भी कर्मोंके फलकी कामनाका परित्याग करनेपर कल्याणके भागी बन सकते हैं। परन्तु इस प्रकार फलकी कामनासे रहित और अनासक्त होकर कर्म करना साधारण जीवोंके लिये सहज नहीं है।

अब उपरोक्त समस्त प्रकारके उपसर्कों लिए अति आवश्यक उन गुणोंका वर्णन करते हैं, जिनके अभावमें कोई भी उपासना सिद्ध नहीं होती। यथा-समस्त भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित होना, स्वार्थ-रहित होना, सबका प्रेमी और दयालु होना, देह और

घर-घार तथा आत्मीय-स्वजनोंमें 'मैं' और 'मेरा' का भाव न रखना, सुख-दुखोंमें सम, क्षमावान, लाभ-हानिमें स्वर्बदा सन्तुष्ट रहना, गुरुके उपदेशोंके पालनमें तत्पर रहना; इन्द्रियोंको वशीभूत रखना, भगवान्की सेवामें दृढ़-संकल्प युक्त होना तथा बुद्धि और चित्तको भगवान्में अर्पण करना। इन गुणोंसे युक्त पुरुष भगवान्के अतिशय प्रिय होते हैं। जिससे कोई भी प्राणी उद्वेगको प्राप्त न हो तथा जो स्वयं अन्य प्राणियोंद्वारा उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो सुखमें आनन्दित नहीं होता, क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध नहीं करता, विपत्तिमें भयभीत नहीं होता, भयका कारण उपस्थित होनेपर भी जिसका चित्त उद्वेगको प्राप्त नहीं होता—ऐसे भक्त भगवान्के प्रिय हैं। जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर भीतर से शुद्ध, चतुर, आलस्यसे रहित; पक्षपात शून्य, दुःखोंसे रहित तथा शास्त्रीय कार्योंके अतिरिक्त अन्यान्य व्यावहारिक कर्म आदि समस्त प्रकारके आरंभोंका त्यागी है—वह भगवान्का बड़ा प्रिय होता है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कोई कामना करता है, तथा जो शुभ और अशुभ समस्त प्रकारके कर्मोंका त्यागी है—वह भी भगवान्का अत्यन्त प्रिय होता है। जो शत्रु-मित्रों, मान-अपमानमें सरदी-गरमीमें, निन्दा-स्तुतिमें तथा सुख-दुःखमें सम है, जो व्यर्थकी बकवादोंसे दूर रहता है, जो सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, जो सतत मननशील है तथा घर-घार और देहादिमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वही भगवान्का प्रिय है। जो भगवान्के बतलाए हुए धर्मोंका नियम पूर्वक पालन करते हैं, भगवान्के चरणकमलोंमें श्रद्धालु तथा भगवत्परायण हैं—वे भी भगवान्को अतीव प्रिय होते हैं। इस प्रकार भगवान्ने सर्वत्र ही भगवद्भक्तोंकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है।

—त्रिदश्विड स्वामी श्रीमन्नक्तिभूदेव श्रीती महाराज

अचिन्त्यभेदाभेद

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या १, पृष्ठ १६ से आगे]

द्वितीय सिद्धान्त

अनन्त, सुन्दरानन्द और हरिदास

अनन्त वासुदेव [पुरीदास स्वामी (१)], सुन्दरानन्द विद्याविनोद और नवद्वीपके हरिदास बाबाजी तीनों मिलकर श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्रीमाध्व-गौड़ीय-वैष्णवोंके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं। इन षड्यन्त्रकारियोंके सम्बन्धमें दो-एक बातें बतलानी आवश्यक हैं।

सुन्दरानन्द

सबसे पहले 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ग्रन्थके लेखक श्रीसुन्दरानन्द विद्या-विनोद महाशयका परिचय संक्षेप में दिया जा रहा है। इनका जन्म ढाका शहरके मालाकार टोलाके प्रसिद्ध वैश्य-शाहाकुलमें हुआ है। पिताका नाम ब्रजेन्द्रकुमार राय और माताका नाम योगिनी सुन्दरीदासी था। दोनोंका देहान्त हो चुका है। सुन्दरानन्दके पिताने इनका नाम रखा था— श्रीसुबोधचन्द्र शाहा राय। सुबोधके पूर्वजोंके कुल-गुरु बंगालके तेरह अपसम्प्रदायके अन्तर्गत सहजिया भेणीके जाति गोस्वामीगण थे। इन्हीं सहजिया जाति गोस्वामियोंकी शिष्य-परम्परामें वे लोग अपना तथा-कथित धार्मिक-जीवन व्यतीत करते चले आ रहे थे। सुबोधका विवाह छात्रकालमें ही हो चुका था। इनकी पत्निका नाम है—श्रीमती तिलोत्तमादेवी। श्रीमती तिलोत्तमा अपने पिता-माताकी अकेली संतान हैं। इनकी माताका नाम ज्ञानदा सुन्दरी और पिताका नाम श्रीगोकुलचन्द्रदास है। गोकुल बाबूका घर पश्चिम बंगालके अन्तर्गत मुर्शिदाबादमें था। सुबोध बाबूके पिता ब्रजेन बाबू नाना-प्रकारकी सांसारिक भ्रमणोंमें पड़कर ऋणसे बेतरह दबनेके कारण बहुत ही दुःखी थे। कोई दूसरा उपाय न देख कर वे

अपने समधी श्रीगोकुल बाबूके शरणमें आये। गोकुल बाबूने जामता और अपनी लड़कीका मुख देख कर समधी महाशयका कर्ज कुछ अंशोंमें चुकाकर उनका कुछ भार हल्का कर दिया।

ढाका विश्वविद्यालयसे बी० ए० पास करने पर सुबोध बाबूकी जीवनधाराने एक मोड़ ली। माननीय त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति-प्रदीप तीर्थ महाराजकी कृपासे सुबोध बाबूने प्राकृत सहजिया कुलगुरुके चंगुल से मुक्ति लाभ कर जगद्गुरु अविष्णुपाद परमहंस स्वामी श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुरके चरणा-श्रय करनेका अभिनय किया। जैसे-जैसे इनका सम्पर्क विश्वविख्यात 'श्रीगौड़ीय मठ' से बढ़ता गया, वैसे-वैसे ये वैष्णवोंके सिद्धान्त, विचार, तर्क और युक्ति आदिमें विशेष निपुण होते गए। कुछ ही दिनोंमें इनको श्रीगौड़ीय मठके मुखपत्र साप्ताहिक 'गौड़ीय' का सम्पादक नियुक्त किया गया। उक्त पत्रके सम्पादन कालमें जगद्गुरु श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुरकी कृपासे इन्होंने श्रीमन्महाप्रभुके एकान्त अनुगत माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायके गम्भीर और कूट दार्शनिक तत्त्वोंका अतीव मनोरम विवेचन प्रस्तुतकर उनका विपुल प्रचार किया है।

सुबोध बाबू कुछ दिनों तक कभी घर पर और कभी मठमें दोनों जगह रह कर 'गौड़ीय' का सम्पादन कार्य करते थे। किन्तु बादमें संसार त्यागकर वान-प्रस्थ अवलम्बनपूर्वक मठ-जीवन ही बिताने लगे।

सुबोध बाबू पिता-माताके अकेला संतान थे। पिताके कर्जका स्मरण कर वे बड़े व्याकुल हो

जाया करते थे । मठवास करनेमें यह एक बड़ी बाधा थी । इस चिन्ताने उनके हृदयको धीरे-धीरे अतिशय दुर्बल कर दिया । वे कुछ ही दिनों के बाद बिना किसीको बतलाए गौड़ीय मठसे भाग गए और गौड़ीय मठकी शिक्षाका सुयोग लेकर 'इण्डियन-प्रेस' इलाहाबादमें ७५) रुपये मासिक वेतन पर नौकरी करने लगे ।

उस समय गौड़ीय मठके सम्पादक थे—श्रीयुत कुंजविहारी विद्याभूषण महाशय । जब उन्हें सुन्दरानन्दकी आर्थिक दुरवस्थाका पता चला, तब उन्होंने स्वजाति-प्रीति और भविष्यमें अपना कुछ मतलब गाँठनेके उद्देश्यसे सुबोध बाबूको कुछ रुपये महावारी देना तैकर इलाहाबादसे पुनः गौड़ीय मठमें बुला लिया । तबसे वे मठमें रह कर कुछ दिनोंतक कुंज बाबूकी सेवा करते रहे ।

दीक्षा होनेके बाद सुबोध बाबूका नाम बदलकर सुन्दरानन्द रखा गया । और अन्तमें विद्याविनोद की उपाधि द्वारा भूषित किये जाने पर वे सुन्दरानन्द विद्याविनोदके नामसे परिचित हुए । अब ये क्रमशः मद्य-व्यवसायी वैश्य-शाहा वंशका अपना पूर्व-परिचय, पूर्व-नाम तथा उपाधि गोपन रखकर प्रतिष्ठा अर्जनेके लिए गुरु-प्रदत्त नामादिका ही व्यवहार करने लगे । यद्यपि गुरुसेवकका गुरुद्वारा दिये गए नामके द्वारा परिचित होना ही कर्त्तव्य है । परन्तु सुबोध बाबू परतत्त्वाभिन्न कृष्ण-प्रेष्ठ गुरुपादपद्मसे सब प्रकारसे सम्बन्ध त्याग करके भी तथा जगत्को वंचित करने के लिए उक्त महापुरुष द्वारा दिये गए नामको वैचकर प्रतिष्ठा संग्रहकी विषासका आज भी परित्याग नहीं कर सके हैं । हमें उनकी गुरु-वैष्णव-द्रोहिताका परिचय प्रत्यक्ष रूपमें मिलनेपर भी 'अचिन्त्यभेदाभेदाद्' ग्रन्थमें वह अमावस्याके नक्षत्रोंकी तरह प्रबलित और प्रस्फुटित हो पड़ी है । हम इस अचिन्त्यभेदाभेद ग्रन्थके विभिन्न सिद्धान्तोंमें (अध्यायोंमें) इसे प्रदर्शन करेंगे ।

सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशय अब पहलेके

सुन्दरानन्द विद्याविनोद नहीं रहे । श्रीसनातन गोस्वामीने हरिभक्तिविलासमें कहा है—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रस-विधानतः ।

तथा दीक्षा-विधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ॥

विद्याविनोद महाशयने 'हरिभक्तिविलास' का उक्त प्रमाण स्वीकार करके श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीसे दीक्षा और उपनयन-संस्कार प्राप्त किये थे । परन्तु उन संस्कारोंका परित्याग कर वे अपने पूर्व-परिचय वैश्य-साहामें परिणत हो गये हैं । यद्यपि साहा और शुद्धियोंकी तरह उन्होंने मद्य-व्यवसाय आरंभ नहीं किया है, तथापि गुरु-द्रोहिता रूप मदकी निशामें मत्त होकर वे ज्ञानशून्य और आत्म विभ्रत हो पड़े हैं । अतएव हम जगह-जगह 'सुबोध बाबू' अथवा 'साहा बाबू' के नामसे ही उनका उल्लेख करेंगे । मन्महाप्रभुकी शिक्षाका अनुशीलन करनेपर हम जान पाते हैं—

अर्घ्यं विष्णो शिलाधी-गुरुषुनरमति-वैष्णवे जाति-बुद्धि-
विष्णोर्वा वैष्णावानां कलिमल-मथने पाद-तीर्थेऽम्बु-बुद्धि ।
श्रीविष्णो-नाम्नि मन्त्रे सकल कलुषहे शब्द-सामान्य-बुद्धि-
विष्णो सर्वेश्वरेशे तदितर-समधीर्षस्य वा नारकी सः ॥
(पञ्चपुराण)

जो पूजनीय श्रीविप्रहको शिला, काठ या पत्थर समझता है, गुरुदेवको साधारण मनुष्य मानता है, वैष्णवोंमें जातिबुद्धि रखता है, विष्णु या वैष्णवोंके चरणामृतको साधारण जल समझता है, समस्त पापोंके नाशक विष्णुके साक्षात् नाम और मंत्रको साधारण शब्द मानता है, तथा समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर—साक्षात् विष्णुको दूसरे-दूसरे देवताओंके समान मानता है; वह अंधा व्यक्ति नारकी है । नारकी व्यक्तिको कदापि वैष्णव नहीं कहा जा सकता है । विशेषतः जो व्यक्ति परम मुक्त श्रीगुरुदेवको एक मरणशील मानव मात्र मानता है तथा उनकी उपेक्षाकर स्वतंत्ररूपमें धर्म-जीवन व्यतीत करता है, तो वह कभी भी वैष्णव पर्यायमें नहीं लिया जा सकता है । यद्यपि वैष्णवोंमें जाति-बुद्धि रखना महान् अपराध है तथापि हमलोग विद्याविनोद महाशय

का पूर्व-परिचय देनेके लिए बाध्य हुए हैं। इसका कारण यह है कि इन्होंने ॐ विष्णुपाद साक्षात् गुरु-पाद-पद्म श्रीलप्रभुपादका परित्याग कर दिया है तथा उनका आचार-विचार भी छोड़ दिया है। 'हरिभक्ति-विलास' में 'वैष्णव' की परिभाषा इस प्रकार बतलायी गयी है—

गृहीत-विष्णुश्रीचाको विष्णुपूजा-परो नरः ।

वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्माद्वैष्णवः ॥

अर्थात् जो व्यक्ति श्रीगुरुदेवसे विष्णुमंत्रमें टीक्षा प्राप्तकर विष्णुमंत्र द्वारा विष्णुकी पूजा करता है, शास्त्रज्ञ पुरुष ऐसे व्यक्तिको 'वैष्णव' कहते हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे सभी अर्थात् गुरु और गुरुद्वारा प्राप्त मंत्रका परित्याग करनेवाले व्यक्ति अवैष्णव कहे गए हैं। सुबोध बाबू गुरुका परित्याग करनेके कारण अवैष्णव हैं। अतएव उनमें जाति-बुद्धि रखने से दोष नहीं स्पर्श करेगा। अधिकन्तु वास्तविक तथ्यको ज्योंका त्यों प्रकाशित करनेसे सत्यकी ही रक्षा करनी होगी। न्याय-विवेचन और धर्माधिकरण में सत्यका आच्छादन करना दण्डनीय अपराध है।

कहना ही अधिक होगा कि रूचिके अनुकूल होने पर सुबोधबाबू गुरु परिवर्तन करनेमें कभी नहीं हिचकते। सर्वप्रथम उन्होंने अपने कुल-गुरु जाति-गोस्वामीका परित्यागकर गौड़ीय मठका आश्रय लिया। कुछ दिनोंके बाद गौड़ीय मठके आचार-विचारोंका परित्यागकर अनन्त वासुदेव विद्याभूषण महाशयके शरणागत हुए। तत्पश्चात् उनको भी छोड़कर हरिबोल कुटीर (नवद्वीप) के हरिदास बाबाजीके अनुगत हुए। कुछ दिन हुए अब उनको भी बाह्यतः परित्याग कर नवद्वीपके किसी अज्ञात स्थानमें वास करते हैं तथा अपने पूर्व-कुलगुरुके पीछे-पीछे दौड़ते हैं। गुरुत्यागियोंका सिद्धान्त कभी भी स्थिर नहीं होता। भागते हुए खरगोश (Running deer) की तरह वह इतस्ततः सत्य-मिथ्या नानाप्रकारके अस्थिर विचारों में भटकता रहता है। कभी तो साहा बाबूने अपने स्वजाति कुंजविहारी द्वारा दिये गए नियमित अर्थके

लोभमें पड़ कर उनकी प्रशंसामें कितने ही नये-नये सिद्धान्तोंकी सृष्टि की है, और कभी वैश्य-साहाकुलको कुछ हीन समझकर तदपेक्षा उच्च क्षत्रिय-कायस्थ वंशोत्पन्न अनन्त वासुदेवकी महिमासे मुग्ध होकर उनके चरित्र सम्बन्धी घटनाओंको गोपन रखकर केवलमात्र मिथ्या तथ्योंका ही अवलम्बन कर उनकी खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा की है। तत्पश्चात् इनके प्रति भी भ्रष्टाकी कमी ही हो अथवा उनमें ज्ञान-विज्ञानका अभाव लक्ष्यकर ही हो, वे हरिबोल कुटीर, नवद्वीपके हरिदास बाबाजीके साथ पुनः सौहार्द स्थापन किये। आजकल "योग्यं योग्येन युज्यते" का एक अपूर्व सम्मेलन हुआ है। हरिदास बाबाजी, अनन्त वासुदेव और सुन्दरानन्द विद्याविनोद—ये तीनों भक्ति-तत्त्वका विनाश करनेके लिए रुद्रके कर-स्थित त्रिशूलके तीनों शूलोंके प्रतीक हैं। इन तीनोंके सम्मिलित षड्यंत्रसे ही 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद', 'गौड़ीयेर तीन ठाकुर', और 'गौड़ीय-दर्शनेर इतिहास ओ वैशिष्ट्य' नामक तीन पुस्तकें सुन्दरानन्द विद्या-विनोदके नामसे संकलित हुई हैं।

अनन्त वासुदेव

सम्प्रति हम सुन्दरानन्दके तृतीय गुरु अनन्त वासुदेवका किंचिन्मात्र परिचय देंगे। इनका पूर्व-नाम श्रीअनन्तवास वसु है। पूर्व-बंगालके ढाका जिलाके अन्तर्गत बअयोगिनी नामक एक प्रसिद्ध गाँवमें इनका जन्म हुआ है। पिताका नाम—श्रीयुत राधा-गोविन्ददास बाबाजी था। अनन्त वासुदेव इन्हीं संसार-त्यागीके कनिष्ठ पुत्रके रूपमें अपना परिचय दिया करते हैं। आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय होनेके कारण बाबाजीने अनन्तवासको जनैक प्रधान सहजिया और पाली भाषाके अध्यापक श्रीयुत अमूल्य चरण विद्याभूषण महाशयके पास रख दिया और उनकी सहायतासे इनको आई० ए० तक पढ़ाया। इसी समय सौभाग्यवश अनन्तवासका सम्पर्क गौड़ीयमठके प्रतिष्ठाता आचार्यकुल मुकुट-मणि मुक्त पुरुषोत्तम श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीसे हुआ और उनकी प्रतिभासे प्रभावित होकर उनके

शिष्य हो गए। श्रील सरस्वती ठाकुरने अनन्तवास की स्मृति-शक्तिके प्रति लक्ष्य कर इन्हें B. A. तक पढ़ाया। B. A. पास करने पर दरिद्र अनन्तवास कुञ्जविहारीकी सिपारिशसे एक साधारण वेतन पर पोस्ट आफिसमें नौकरी करने लगे। किन्तु कुछ ही महीनोंके बाद श्रील प्रभुपादकी इच्छासे नौकरी छोड़ कर मठके सेवा-कार्यमें नियुक्त हुए।

इनके पिता राधागोविन्द बाबाजी महाशयकी बहुत दानसे सहजिया धर्मके प्रति श्रद्धा थी। और सौभाग्य या दुर्भाग्य जैसा भी समझिये विद्याध्ययन कालमें ही अमूल्य बाबू जैसे एक पक्का सहजियाका सङ्ग मिला। अतः इनके हृदयमें असन्तुष्ट सम्प्रदाय सहजियाका बीज इनके यौवनके प्रथम भागमें ही अंकुरित हो चुका था।

इस अवस्थामें यदि हृदयमें असन्तुष्ट सम्प्रदायका विषाक्त बीज अंकुरित हो जाय, तो उसका ध्वंस होना अत्यन्त कठिन होता है। अनन्तवासके मुखसे हमने इन अमूल्य बाबूकी लाखों प्रशंसाएँ सुनी हैं। उनके अन्नसे पले-पोसे होनेके कारण कृतज्ञतासे ही हो अथवा उनके निकट धर्म-शिक्षाका मूल उपदान प्राप्त होनेसे ही हो अनन्तवासकी अमूल्य बाबूके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी।

जगद्गुरु श्रील प्रभुपादके असीम शास्त्र-ज्ञान और वीर्यवती वाणीके प्रभावसे अनन्तवासकी सहजिया प्रवृत्तिके अंकुरित विषाक्त बीजका पनपना रुक तो गया, परन्तु उसका ध्वंस न हो सका। प्रभुपादकी अप्रकट लीलाके साथ ही-साथ इनके हृदयमें अवस्थित माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-चिन्ताधाराको दग्ध करनेवाली धूम्रायित अग्नि भीषण रूपसे धधक उठी। सहजिया लोग परस्त्री-संभोग आदि क्रियाओंको ही अप्राकृत पारकीय मधुर रस मानते और प्रचार करते हैं। अनन्त वासुदेव इस विचार-धारासे अन्तर-ही-अन्तर अनुप्राणित होकर असीमा-प्रीति-धाराके प्रति आकृष्ट हो पड़े। अनन्तवास जगद्गुरु श्रील प्रभुपादका आश्रय लेकर श्रीअनन्त वासुदेव ब्रह्मचारीके

नामसे परिचित हुए थे और नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन कर शेष जीवन तक श्रीगुरुके चरणोंकी सेवामें आत्म-नियोग करनेके लिये प्रतिज्ञा-बद्ध थे। उनके बाहरी वैराग्य और पाण्डित्यकी प्रतिभासे गुग्ध होकर गौड़ीय मठके सेवकोंने उनको आचार्य पद पर नियुक्त किया था। किन्तु साधारण जीवके लिये गौड़ीय-वैष्णव-वर्गके आचार्य-पदका निभाना नितान्त असम्भव कार्य है। अन्तमें अनन्त वासुदेवकी भी वही अवस्था हुई, जो होनी थी।

वासुदेव आचार्य पदका सुयोग लेकर असीमा और नीलिमा आदि प्रभुपादकी अनुगृहीता विदुषी महिलाओंको विशेषरूपमें भजनकी शिक्षा देने लगे। धीरे-धीरे उनकी नाना प्रकारकी बदनामी सुनी जाने लगी। अतः बदनामीसे बचनेके लिये इन्होंने संन्यास ग्रहणका अभिनय किया। अबसे ये 'श्रीभक्तिप्रसाद पुरी' के नामसे ही अपना परिचय देने लगे। सुन्दरानन्द प्रभृति कतिपय अच्छे-अच्छे लेखकोंकी प्रवेष्टासे अब ये अतिशय विशिष्ट व्यक्ति हो पड़े। फल-स्वरूप अनेक धनी-मानी व्यक्ति इनके शिष्य होने लगे। ढाका जिलाके प्रसिद्ध नाग-परिवारकी जनैका विदुषी (बी०ए० की छात्री) भी उनकी शिष्या हुईं। इस नवयुवती शिष्याको वे नाना-प्रकारकी निगूढ़ भजन-शिक्षा देते। उक्त महिला रूप, गुण कुल और मान सब प्रकारसे एक योग्य महिला थी। दीक्षाके उपरान्त वे 'गरिमा' के नामसे परिचित होने लगीं। धीरे-धीरे गरिमाके भजन-व्यापारमें अधिक पटु होनेपर उनके बन्धु-बान्धवाने श्रीश्रीमद्भक्तिप्रसाद पुरी महाराजको गरिमासे विवाह करनेके लिये बाध्य किया। इलाहबादमें विवाह होनेपर पुरी स्वामीने संन्यासकी वेष-भूषा और नाम आदिका परित्याग कर पुनः अनन्तवास वसुके रूपमें परिणत हुए। सुन्दरानन्द विद्या विनोद महाशय इनका ऐसा चित्र अपने आँखोंसे देख कर भी सहजिया धर्मकी रक्षाके लिये उक्त घटनाको वैष्णव जीवनका आदर्श बतलाया है।

(क्रमशः)

जैवधर्म

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या १, पृष्ठ २४ से आगे]

बात-की-बातमें एक छोटी-मोटी सभा जम गई । सब लोगोंके बैठने पर न्यायरत्नने पूँछा—“मैं जानना चाहता हूँ कि वैष्णव धर्म पुरातन है या आधुनिक ?”

परमहंस बाबाजीकी आज्ञा पाकर वैष्णवदासजी शान्त किन्तु बड़े ही गम्भीर शब्दोंमें बोले—“वैष्णव-धर्म सनातन और नित्य है ।”

न्यायरत्न—“मैं दो प्रकारका वैष्णव-धर्म देखता हूँ । एक प्रकारके वैष्णव-धर्ममें ब्रह्मको निराकार और निर्विशेष माना जाता है । किन्तु निराकार वस्तुकी उपासना नहीं होती, इसलिये इसमें साधक सबसे पहले एक साकार रूपकी कल्पना करके उसकी उपासना-करता है । इस उपासनाकी आवश्यकता केवलमात्र चित्त-शुद्धिके लिये होती है । चित्त शुद्ध होनेपर जब निराकार ब्रह्मका ज्ञान उदित हो जाता है, तब पूर्वोक्त साकार उपासनाकी आवश्यकता नहीं रह जाती । ‘राधाकृष्ण, राम अथवा नृसिंह आदि समस्त रूप मायाद्वारा कल्पित रूप हैं, इन कल्पित साकार रूपोंकी उपासनासे ब्रह्मज्ञान होता है—इस भावनासे जो लोग विष्णु मूर्त्तिकी पूजा करते हैं तथा विष्णु-मन्त्रसे उपासना करते हैं, वे पञ्चोपासकोंमें वैष्णव हैं । दूसरे प्रकारके वैष्णव-धर्ममें भगवान विष्णु अथवा राम या कृष्णको नित्य साकार परब्रह्म माना जाता है । इनमेंसे प्रत्येककी उपासना उनके निर्दिष्ट मन्त्रोंसे करने पर साधक अपने उपास्य रूपका नित्य-ज्ञान और उनकी कृपा प्राप्त करता है । इस मतके अनुसार निराकार मत मायावाद है, अतएव शङ्करकी भ्रान्ति है । अब आप यह बतलावें कि उपरोक्त दोनों प्रकारके वैष्णव धर्मोंमें कौनसा सनातन और नित्य है ?”

वैष्णवदास—“आपने अन्तमें जिसका उल्लेख

किया है, वही वैष्णव-धर्म है, वही सनातन धर्म है । दूसरा केवल नाममात्रका वैष्णव-धर्म है । यह नित्य वैष्णव-धर्मके प्रतिकूल अनित्य-धर्म है, जिसका उद्गम-स्थान मायावाद है ।”

न्यायरत्न—‘समझ गया, आप लोग चैतन्यदेवका मत मानते हैं और आपलोगोंके मतसे यही वैष्णव-धर्म है । केवल राधाकृष्ण, राम, नृसिंह आदिकी उपासना करनेसे ही वैष्णव नहीं हुआ जाता है । चैतन्य-मतके अनुसार राधाकृष्ण आदिकी उपासना करनेसे ही वैष्णव हुआ जाता है । यही तो आप लोगोंका विचार है ? अच्छी बात है, वही सही, किन्तु इस वैष्णव-धर्मको आपलोग सनातन कैसे कह सकते हैं ?’

वैष्णवदास—‘वेद-शास्त्रोंमें सब जगह इसी वैष्णवधर्मकी शिक्षा दी गयी है । समस्त स्मृतिशास्त्रों में इसी वैष्णवधर्मका उपदेश है । समस्त आर्य-इतिहास इसी वैष्णवधर्मका गुणगान करते हैं ।’

न्यायरत्न—‘चैतन्यदेवके जन्मके अभी डेढ़ सौ वर्ष भी पूरे नहीं हुए और जब वे ही इस मतके मूल प्रवर्तक है, तो यह मत सनातन कैसे हो सकता है ?’

वैष्णवदास—“जीव जिस समयसे उत्पन्न हुए हैं, यह वैष्णव-धर्म भी उसी समयसे प्रकटित हुआ है । और चूँकि जीवका आदि किसी जड़ीय कालमें नहीं है, इसलिये जीव अनादि हैं और उनका धर्म भी जिसे जैव-धर्म अथवा वैष्णव-धर्म कहते हैं, अनादि है । ब्रह्मा सबसे आदि जीव हैं । ब्रह्माके उत्पन्न होते ही उनसे ही वैष्णव-धर्मकी आधारभूता वेदवाणीका प्रकाश होता है । उन वेदवाणियों को चतुःश्लोकी भी कहते हैं । मुण्डकोपनिषद्में ऐसा लिखा हुआ है—“ब्रह्मा देवानां प्रथमः

सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता । सत्रह्या-
पुत्राय प्राह ॥” (१)

(मुण्डकोपनिषद् १।१।१)

यह ब्रह्मविद्या क्या शिक्षा देती है—उसे ऋग्वेदसंहिता (१।२२।२०) में देखिए—

“तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिधीव चक्षुरात्ततम् ॥” (२)

कठोपनिषद् में भी कहा गया है—

“विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥” (३)

श्वेताश्वर (५।४) में भी लिखा है—

पुं स देवो भगवान् वरेण्यो योनि-स्वभावान-
धितिष्ठत्येकः ॥ (४)

तैत्तिरीयोपनिषद् में भी (७।२) कहा गया है—

“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां
परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह
ब्रह्मणा विपरिचिता ॥” (५)

न्यायरत्न—“आप जिस ‘तद् विष्णोः परमं

पदम्’—वेद वाणी द्वारा वैष्णव धर्मको इंगित करते हैं, वह मायावादके अन्तर्गत वैष्णव धर्मके लिए नहीं है—इसे आप कैसे कह सकते हैं ?”

वैष्णवदास—“मायावादवाले वैष्णव-धर्ममें नित्य आनुगत्य (सेवकभाव) नहीं है । ज्ञान प्राप्त होनेपर इसमें साधक स्वयं ब्रह्म हो जाता है । ब्रह्म ही जानेपर फिर आनुगत्य-धर्म रहा ही कहाँ ? किन्तु शास्त्र कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,

न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ (६)

(कठ० २।१३)

आनुगत्य धर्म ही एक मात्र धर्म है । उसके द्वारा परब्रह्मकी कृपा होनेपर परब्रह्मका नित्य-रूप दर्शन किया जा सकता है । ब्रह्मज्ञानसे उस रूपका दर्शन नहीं मिलता । इसी सुदृढ़ वेदवाक्यसे ही शुद्ध वैष्णवधर्मका वेदमूलत्व आप समझ

(१) सम्पूर्ण जगत्के रचयिता और सब लोगोंकी रक्षा करनेवाले ब्रह्माजी समस्त देवताओंसे पहले प्रकट हुए । उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आधारभूता ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया ।

(२) जैसे आँख आकाशमें विना किसी बाधाके सूर्यका दर्शन करती है, ज्ञानीजन भी वैसे ही भगवान् विष्णुके उस परम पदका नित्यकाल दर्शन किया करते हैं ।

(३) विष्णुके चरणकमल ही परम श्रेष्ठ हैं ।

(४) जिस प्रकार यह सूर्य समस्त दिशाओंको ऊपर नीचे तथा इधर उधर सब ओरसे प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार समस्त देवताओंके भी आदि और परम देवता भगवान् विष्णु समस्त कारणोंके कारणस्वरूप होकर भी निर्विकार स्वभावमें वर्तमान हैं तथा बही एकमात्र वरणीय और उपास्य हैं ।

(५) ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है । जो मनुष्य परव्योममें रहते हुए भी प्राणियोंके हृदयरूप गुफाओंमें छिपे हुए उस ब्रह्मको जानता है, वह उस अन्तर्यामी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त भोगोंका अनुभव करता है ।

(६) यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त होता है, बल्कि जिसको यह कृपाकर स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह परमात्मा उसके निकट ही अपने यथार्थ रूपको प्रकट करता है ।

सकते हैं। जिस वैष्णव-धर्मकी शिक्षा श्रीमन्महाप्रभुने दी है वही वैष्णव-धर्म है। इसमें संदेह करनेका कोई कारण नहीं।”

न्यायरत्न—“समस्त शास्त्रोंका मूल तात्पर्य कृष्णका भजन है, ब्रह्मज्ञान नहीं—क्या वेदोंमें इस प्रकारके मंत्र पाये जाते हैं ?”

वैष्णवदास—“रसो वै सः (तै० आ० २।७) (१) श्यामाच्छ्वलं प्रपद्ये, शयलाच्छ्यामं प्रपद्ये। (छा० ८।१३।१) (२ इस प्रकार अनेक वेद-मंत्रोंसे कृष्ण-भजनको ही निर्देश किया गया है।”

न्यायरत्न—“क्या वेदोंमें ‘कृष्ण’ नामका कहीं उल्लेख मिलता है ?”

वैष्णवदास—“श्याम’ शब्दसे क्या कृष्णका बोध नहीं होता ?”

‘अपश्यं गोपामनिपद्यमा नमा’ (ऋग्वेद १।२२।१६४।३१) (३) इत्यादि वेदमंत्रोंमें कृष्णका ही उल्लेख किया गया है।

न्यायरत्न—“इन मंत्रोंमें ‘कृष्णका’ नाम स्पष्ट रूपसे नहीं मिलता। आप खींचा-तानीकर ऐसा अर्थ लगाते हैं।”

वैष्णव दास—“आप यदि वेदोंका भलीभाँति अध्ययन करें तो देखेंगे कि सभी विषयोंके सम्बन्धमें वेद इसी प्रकारके वाक्योंका प्रयोग करते हैं। हमारे प्रधान-प्रधान ऋषियोंने इन वेदमंत्रोंका जो अर्थ-निरूपण किया है, हमें उन अर्थोंको मान लेना चाहिए।”

न्यायरत्न—“अब वैष्णव-धर्मका इतिहास बतलाइये।”

वैष्णवदास—“मैं कह चुका हूँ कि वैष्णवधर्म जीवोंकी उत्पत्तिके साथ-ही-साथ उदित हुआ है।

प्रथम वैष्णव हैं—ब्रह्मा। श्रीमहादेवजी वैष्णव हैं। समस्त प्रजापति वैष्णव हैं। ब्रह्माके मानस पुत्र नारद मुनि वैष्णव हैं। अब इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णव-धर्म सृष्टिके आदिकालसे ही चला आ रहा है। यह कोई आधुनिक-धर्म नहीं है। सच वान तो यह है कि सभी जीव निर्गुण प्रकृतिके नहीं होते; जिस जीवकी प्रकृति जितनी ही निर्गुण होगी, वह उतना ही उत्तम कोटिका वैष्णव होगा। महा-भारत, रामायण और पुराण ही आर्य जातिके प्रारम्भिक इतिहास-ग्रन्थ हैं। इन समस्त ग्रन्थोंमें वैष्णव-धर्मकी उत्कर्षता ही प्रतिपादित की गई है। आपने सृष्टिके आदिकालमें वैष्णव-धर्म देख लिया। इसके बाद ध्रुव और प्रह्लादको हम पाते हैं। ये दोनों शुद्ध वैष्णव हैं। इनके समयमें और भी हजारों-हजारों वैष्णव थे, जिनके सम्बन्धमें कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि इतिहासमें केवल प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियोंके ही नाम दिये जाते हैं। साधारण लोगोंके नाम उसमें स्थान नहीं पाते। ध्रुव, मनुके पुत्र हैं और प्रह्लाद कश्यप प्रजापति के पौत्र हैं। ये सब अत्यन्त आदिमकालके हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। अतः आप इतिहासके प्रारम्भिक कालसे ही वैष्णवधर्मको लक्ष्य कर रहे हैं। उसके बाद सूर्य और चद्रवंशी राजागण और अच्छे २ मुनिजन तथा ऋषि लोग सभी वैष्णव थे। सत्य, त्रेता और द्वापर इन तीनों युगोंमें ही वैष्णव-धर्मका उल्लेख पूर्णरूपसे पाया जाता है। कलियुगमें भी दक्षिण भारतमें श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य और श्रीविष्णु स्वामी तथा पश्चिम भारतमें निम्बादित्य स्वामीने हजारों-हजारों मनुष्योंको विशुद्ध वैष्णव धर्ममें दीक्षित किया था। जहाँ तक मेरा ख्याल है उन्हीं लोगोंकी कृपासे भारतवर्षके अर्धसंख्यक मनुष्य माया-समुद्रसे पार होकर भगवद् भजनमें प्रवृत्त

(१) परम पुरुष (कृष्ण) रस-स्वरूप है।

(२) कृष्ण-सेवाद्वारा विचित्र विलासोंसे पूर्ण अप्राकृत चिदानन्दमय धामकी प्राप्ति होती है। तथा विविध विचित्रताओंसे पूर्ण उस चिद् जगत्से कृष्णकी प्राप्ति होती है।

(३) गोपाल वंशमें उत्पन्न कृष्णको देखा, जिनका कभी पतन नहीं है अर्थात् वे अच्युत हैं।

हुए हैं। बंग देशमें ही देखिये, मेरे प्राणेश्वर श्री-
शाचीनन्दनने न जाने कितने ही दीन हीन और पतितों
का उद्धार किया है। यह देख सुनकर भी क्या
वैष्णवधर्मका माहात्म्य आप लोगोंको दिखलाई
नहीं पड़ता ?”

न्यायरत्न—“ठीक है, परन्तु प्रह्लाद आदिको
किस आधारपर वैष्णव कहा जा सकता है ?”

वैष्णवदास—“शास्त्रोंके आधार पर कहा जा सकता
है। पण्डामर्क प्रह्लादको मायावादसे दूषित ब्रह्मज्ञान
की शिक्षा देना चाहते थे, किन्तु प्रह्लादने उनकी
शिक्षा न सीखकर भगवन्नामको ही समस्त शिक्षाओं
का सार समझा था। इसलिए वह निरंतर बड़े प्रेमसे
भगवन्नाम किया करते थे। ऐसी अवस्थामें प्रह्लाद
एक शुद्ध वैष्णव थे—इसमें संदेह ही क्या रह जाता
है ? यथार्थ बात तो यह है कि जब तक बुद्धि थोड़ी
निरपेक्ष और सूक्ष्म न हो, तब तक शास्त्रोंका गूढ़
तात्पर्य समझना कठिन है।”

न्यायरत्न—“यदि वैष्णव-धर्म इसी प्रकार
सदासे ही चला आ रहा है, तो चैतन्य महाप्रभुने
ऐसी कौनसी नई शिक्षा दी है, जिससे वे विशेष
भ्रष्टाके पात्र हैं ?”

वैष्णवदास—“वैष्णव-धर्म कमलके फूलकी
भाँति समयानुसार क्रमशः खिलता हुआ आ रहा
है। पहले कलीके रूपमें था, फिर कुछ विकसित सा
दिखाई पड़ा और अन्तमें पूर्णरूपसे विकसित हो
कर अपने सौरभको चुतुर्दिक विखेर कर जीवोंको
आकृष्ट करने लगा। ब्रह्माके समय भगवत्ज्ञान,
मायाविज्ञान, भक्ति-साधन और प्रेम जीवोंके हृदयमें
चतुःश्लोकीके रूपमें व्यक्त हुआ। वैष्णव-धर्मका यह
अंकुरित होनेका काल है। प्रह्लाद आदिके समयमें
कलीके रूपमें व्यक्त हुआ है। क्रमशः वेद-व्यास
मुनिके समय इस धर्मकी पंखड़ियाँ कुछ-कुछ
विकसित रूपमें दिखाई पड़ीं। रामानुज, मध्व आदि
आचार्योंके समय वह कुछ विकसित होकर पुष्पाकार
दीख पड़ने लगा। और श्रीमन्महाप्रभुके समय वह

अर्ध-विकसित पुष्प पूर्ण विकसित होकर अपने सौरभसे
सम्पूर्ण जगत्को आकृत करने लगा है। नाम-प्रेम
वैष्णव-धर्मका अत्यन्त निगूढ़ भाव है। जिसे श्रीम-
न्महाप्रभुने जगत्के जीवोंके लिए प्रकाशित किया है।
श्रीनाम-संकीर्तन परम अमूल्य और अतिशय आदर
की वस्तु है—इस उपदेशको क्या और किसीने कभी
प्रकाशित किया है ? यद्यपि यह शास्त्रोंमें पहले भी
वर्तमान था, फिर भी जीवोंके सामने ज्वलन्त आदर्श
के रूपमें प्रकाशित नहीं था, जिससे साधारण जीव
इसे अपने जीवनमें आचारण करनेकी प्रेरणा प्राप्त
कर सके। श्रीमन्महाप्रभुसे पूर्व प्रेमरसका भंडार क्या
इस प्रकार साधारण जीवोंमें किसीने कभी भी
लुटाया है ?”

न्यायरत्न—“अच्छी बात है, यदि कीर्तन इतना
ही उपकारी है, तो पण्डित-मंडलीमें इसका आदर
क्यों नहीं है ?”

वैष्णवदास—“आजकल ‘पण्डित’ शब्दका अर्थ
विपरीत लगाया जाता है। सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारदर्शी
(उज्वला) बुद्धिको पण्डा कहते हैं। ऐसी बुद्धिसे युक्त
व्यक्तियोंको पण्डित कह सकते हैं। ‘पंडित’ शब्दका
यही यथार्थ अर्थ है। किन्तु आजकल थोड़ी बहुत संस्कृतका
अध्ययन कर न्याय और स्मृति आदि शास्त्रोंका लोक-
रंजन अर्थ करनेवाले अथवा निरर्थक युक्ति-जालका
विस्तार करनेवाले ही पण्डित कहे जाते हैं। ऐसे
पंडित भला किस प्रकार धर्मका तात्पर्य और शास्त्रों
का वास्तविक अर्थ समझ या समझा सकते हैं ?
निरपेक्ष होकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे जो फल
प्राप्त होता है, वह शुष्क तर्क-वितर्कोंसे थोड़े ही पाया
जा सकता है ? सच बात तो यह है कि व्यर्थ की
वितण्डाकर जो अपनेको और दूसरोंको वंचित करने
में पटु है, ऐसे वंचक ही कलियुगमें पण्डित हैं।
ऐसी पण्डित-मण्डलीमें घट-पट सम्बन्धी तर्क ही सर्वदा
हुआ करते हैं। वहाँ वस्तुज्ञान, सम्बन्ध-ज्ञान-तत्त्व,
जीवोंका चरम प्रयोजन तथा उसकी प्राप्तिके उपाय—
इन विषयोंके सम्बन्धमें कभी भी कोई चर्चा नहीं

होती। जब तक तत्त्वका यथार्थ विवेचन न हो तब तक प्रेम और संकीर्तन, क्या वस्तु हैं, कैसे जाना जा सकता है ?”

न्यायरत्न—“अच्छी बात है। मैंने यह माना कि आजकल अच्छे परिणत नहीं हैं। किन्तु उच्च श्रेणीके ब्राह्मण लोग वैष्णव धर्मको क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ? ब्राह्मण—सात्विक वर्णके हैं। सत्यपथ और उत्तम धर्मके प्रति ब्राह्मणोंकी स्वाभाविक ही रुचि होती है। फिर क्या कारण है कि अधिकांश ब्राह्मण वैष्णव-धर्मके विरोधी होते हैं ?”

वैष्णवदास—“जब आप पूछ रहे हैं तो मुझे बाध्य होकर कहना पड़ता है। वैष्णवजन स्वभावसे ही दूसरोंकी चर्चा नहीं किया करते। यदि आप कष्ट न माने और यदि आप सत्यको जाननेकी हार्दिक इच्छा रखते हैं, तो मैं आपके शेष प्रश्नका उत्तर देने की चेष्टा करूँ।”

न्यायरत्न—“जो कुछ हो, शास्त्रोंका अध्ययन करके हम शम, दम और तितिक्षाके पक्षपाती हैं। हम आपकी बातोंको सह न सकेंगे, ऐसी कोई बात नहीं है। आप बिना किसी हिचकिचाहटके स्पष्ट रूपमें कहिए। हम अच्छी बातोंका आदर करते हैं।”

वैष्णवदास—“देखिए, रामानुज, मध्व, विष्णु-स्थामी और निम्बादित्य—ये सभी ब्राह्मण हैं। उनके हजारों-हजारों ब्राह्मण शिष्य थे। गौड़ देशमें हमारे श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी वैदिक ब्राह्मण हैं। हमारे नित्यानन्द प्रभु राठीय ब्राह्मण हैं, हमारे अद्वैत प्रभु वारेन्द्र ब्राह्मण हैं तथा हमारे गोस्वामी और संतजन अधिकांश ही ब्राह्मण हैं। हजारों-हजारों उच्च श्रेणीके ब्राह्मण आजकल वैष्णव-धर्म ग्रहणकर उसका समग्र विश्वमें प्रचार कर रहे हैं। ऐसी दशामें आप यह कैसे कह सकते हैं कि उच्च श्रेणीके ब्राह्मण वैष्णव धर्मका आदर नहीं करते हैं ? हम जानते हैं, जो ब्राह्मण वैष्णव-धर्मका आदर करते हैं वे अत्यन्त उच्च श्रेणीके ब्राह्मण हैं। किन्तु कुल और संगके दोष से तथा असत् शिक्षाके कारण कुछ लोग ब्राह्मण वंश में जन्म ग्रहण करने पर भी वैष्णव धर्मसे विद्वेष

करते हैं। इससे उनके दुर्भाग्य और पतनका ही परिचय मिलता है। उनके ब्रह्मणत्वका नहीं। विशेषतः शास्त्रानुमोदित सद्ब्राह्मण कलिकालमें बहुत ही अल्प हैं और वे अल्पसंख्यक ब्राह्मण ही वैष्णव हैं। ब्राह्मण जिस समय वेद माता गायत्रीको प्राप्त करता है, उसी समयसे वह दीक्षित वैष्णव हो जाता है। कलिके संसर्गसे उनमेंसे कुछ लोग पुनः अवैदिकी दीक्षा ग्रहण कर वैष्णवधर्म परित्याग करते हैं। अतएव वैष्णव-ब्राह्मणोंकी संख्या अल्प देखकर किसी प्रकारका भूल सिद्धान्त न कर लीजियेगा।”

न्यायरत्न—“नीच जातियोंके लोग ही अधिकांश रूपमें क्यों वैष्णव-धर्म स्वीकार करते हैं ?”

वैष्णवदास—“इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं। नीच जातियोंमें अधिकांश व्यक्ति अपनेको दीन-हीन समझते हैं। और इसीलिए वे वैष्णवोंके दयापात्र होते हैं। वैष्णवकी कृपाके अतिरिक्त वैष्णव नहीं हुआ जा सकता है। जातिमद, धनमद आदि में उन्मत्त रहने पर दीनता हृदयको स्पर्श नहीं कर पाती है। अतएव ऐसे लोगोंके लिए वैष्णवोंकी कृपा लाभ करना बड़ा ही दुर्लभ होता है।”

न्यायरत्न—“मैं इस विषयको और आगे नहीं बढ़ाना चाहता। मैं देखता हूँ कि आप क्रमशः शास्त्रोंके उन्हीं कठोर वचनोंका उद्धार करेंगे जो कलियुगी ब्राह्मणके सम्बन्धमें कहे गये हैं। बाराहपुराणोक्त “राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु” आदि वचनोंको सुनकर हमें बहुत ही दुःख होता है। इसलिए इस विषयकी चर्चा न छेड़ूँगा। अच्छा, यह तो बतलाइये कि आपलोग ज्ञानके अनन्त स्वरूप श्रीशङ्कराचार्यका आदर क्यों नहीं करते हैं ?”

वैष्णवदास—“आप कह क्या रहे हैं ? हमलोग श्रीशङ्कराचार्यको श्रीमहादेवका अवतार मानते हैं। श्रीमन्महाप्रभुने उन्हें आचार्य रूपमें सम्मान करनेकी शिक्षा दी है। हमलोग शङ्कराचार्यका आदर करते हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रकाशित मायावादको स्वीकार नहीं करते। मायावाद वैदिक-धर्म नहीं है। बल्कि प्रच्छन्न-बौद्धमत है। आसुरिक प्रवृत्तिके मनुष्योंके लिये

भगवान्की आज्ञासे शङ्कराचार्यने वेद-वेदान्त और गीतादिका विपरीत अर्थ करके अद्वैतवाद नामका एक असत् मत प्रकाशित किया है। इसमें आचार्यका दोष ही क्या है जिससे उनकी निन्दा की जाय। बुद्ध-देव भगवान्के अवतार हैं। उन्होंने भी वेद-विरुद्ध बौद्धमतका प्रचार किया है। ऐसा होनेपर भी क्या कोई आर्य सन्तान उनकी निन्दा करती है। यदि कहिये, श्रीभगवान् और महादेवजीके ऐसे-ऐसे कार्य शोभा नहीं देते, क्योंकि इससे वैषम्य दोष आ पड़ता है, तो उत्तर यह है कि विश्वपालक भगवान् और उनके कर्म-सचिव महादेव सर्वज्ञ और सर्व मङ्गलमय हैं। उनमें वैषम्य दोष नहीं आ सकता। उनके कार्योंका गम्भीर अर्थ न समझनेके कारण ही अज्ञ और लुद्ध जीव उनकी निन्दा करता है। भगवान् और उनके कर्म, मनुष्यके मन और बुद्धिकी पहुँचसे परे हैं। इसलिये बुद्धिमान मनुष्योंका यह कहना कि “ईश्वरका यह कार्य ठीक नहीं है, ऐसा होना उचित था”—ठीक नहीं है। असुर स्वभाववाले लोगोंको माया-जालमें आवद्ध कर रखनेका क्या प्रयोजन है—यह तो वही सर्व नियन्ता परमेश्वर ही जानते हैं। जीवोंकी सृष्टि करनेका और प्रलयकालमें फिर उन्हें ध्वंस करनेका तारपर्यं क्या है—इसे हमलोगोंके जाननेका कोई उपाय नहीं है। यह सब कुछ भगवान्की लीला है। भगवद्-भक्तजन तो भगवान्की लीला-कथाओंके श्रवणमें ही आनन्द प्राप्त करते हैं, इनके सम्बन्धमें किसी प्रकार का तर्क-वितर्क करना पसन्द नहीं करते।”

न्यायरत्न—“आपलोग मायावादको वेद-वेदान्त और गीताके विरुद्ध क्यों कहते हैं।”

वैष्णवदास—“यदि आप उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रोंको पढ़ें तो कृपया उन मंत्रों और सूत्रोंको बतलावें जिनसे मायावादकी पुष्टि होती है। मैं उनका यथार्थ और सरल अर्थ बतला कर प्रमाणित कर दूँगा कि वे मायावादकी पुष्टि नहीं करते। किसी-किसी मन्त्रोंमें मायावादका अभास अवश्य पाया जाता है, किन्तु आगे और पीछेके मन्त्रोंकी विवेचना करनेपर उसका अर्थ स्पष्ट ही भूलकने लगता है। और

मायावादकी पुष्टि करनेवाला अर्थ तत्क्षण तिरोहित हो जाता है।”

न्यायरत्न—“भाई ! मैंने उपनिषद् और वेदान्त नहीं पढ़े हैं। न्याय-शास्त्रका विषय होनेपर कमर कस सकता हूँ। घटको पट कर सकता हूँ और पटको घट बना सकता हूँ। गीताका थोड़ा सा अध्ययन तो अवश्य किया है, किन्तु उसमें विशेष प्रवेश नहीं। फलस्वरूप मुझे यहाँ पर चुप हो जाना पड़ा। अच्छा, एक बात और पूछना चाहता हूँ। आप बड़े विद्वान् हैं, अतएव भलीभाँति समझा दीजियेगा। वैष्णवजन विष्णुके प्रसादके प्रति अत्यन्त भ्रद्धा रखते हैं, किन्तु अन्य देवता-देवियोंके प्रसादके प्रति अभ्रद्धा क्यों करते हैं ? वे अन्य देवता-देवियोंका प्रसाद क्यों नहीं ग्रहण करते।”

वैष्णवदास—“मैं पण्डित नहीं, नितान्त मूर्ख हूँ। मैं जो कुछ बोल रहा हूँ, वह इन अपने गुरुदेव परमहंस महाराजकी कृपासे ही बोल रहा हूँ। शास्त्र अनन्त हैं। किसीने भी सम्पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है। शास्त्र रूपी समुद्रका मन्थन करके गुरुदेवने मुझे जो सार शिक्का दी है मैंने उसे ही समस्त शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तके रूपसे ग्रहण किया है। आपके प्रश्नका उत्तर यह है कि वैष्णवजन दूसरे-दूसरे देवी-देवताओंके प्रसादके प्रति अभ्रद्धाका भाव नहीं रखते। श्रीकृष्ण समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर अर्थात् परमेश्वर हैं। देव-देवियाँ उनके दास-दासियाँ अर्थात् भक्त हैं। भक्तोंके प्रसादके प्रति वैष्णवजन कभी भी अभ्रद्धा प्रकट नहीं कर सकते हैं; क्योंकि भक्तोंकी प्रसाद सेवासे शुद्ध भक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तोंकी चरणधूलि, उनका चरणामृत और अधरामृत ये तीनों ही भवरोगको दूर करनेमें महौषधि स्वरूप हैं। सच्ची बात यह है कि मायावादी चाहे जिस देवताकी पूजा करें अथवा अन्न आदि नैवेद्य अर्पण करें, मायावादकी निष्ठा रूप दोषके कारण वे देवता उस नैवेद्य आदिको ग्रहण नहीं करते हैं। शास्त्रोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं। जिज्ञासा करनेपर बतला सकता हूँ। देवता-देवियोंके पुजारी अधिकतर माया-

वादी हुआ करते हैं। उनका दिया हुआ देवप्रसाद प्रहण करनेसे भक्तिकी हानि होती है और भक्तिदेवी-के निकट अपराधी बनना पड़ता है। यदि कोई शुद्ध वैष्णव कृष्णको अर्पित किया हुआ प्रसाद अन्य देव-देवियोंको अर्पण करता है तो वे देव-देवियाँ बड़े प्रेम से उसे प्रहण कर नृत्य करने लगती हैं। फिर तो वैष्णव लोग भी उनका प्रसाद प्राप्तकर आनन्द लाभ करते हैं। और भी एक बात देखिये, शास्त्रोंकी आज्ञा ही बलवान है। योग-शास्त्रमें योगाभ्यासी साधकको दूसरे-दूसरे देवी-देवताओंका प्रसाद प्रहण करनेका निषेध किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि योगी अन्यान्य देवताओंके प्रसादके प्रति अभ्रद्धाका भाव रखते हैं। क्योंकि योग-साधनमें प्रसादका त्याग करनेसे ध्यानको एकाग्र करनेमें बड़ा उपकार होता है। इसी प्रकार भक्ति-साधनमें भी उपास्य देवताके अतिरिक्त किसी भी दूसरे देवताका प्रसाद खानेसे अनन्य भक्ति सिद्ध नहीं होती। इसलिए ऐसा समझना भूल है कि वैष्णवजन अन्य देवी-देवताओंके प्रसादसे घृणा करते हैं। केवल शास्त्राज्ञानुसार अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिए प्रयत्न किया जाता है। वस यही समझिएगा।”

न्यायरत्न—“अच्छा यह तो समझ गया, किन्तु आप लोग शास्त्र-सम्मत यज्ञमें पशुबधका विरोध क्यों करते हैं?”

वैष्णवदास—“पशुओंका बध करना शास्त्रोंका उद्देश्य नहीं। वेदमें ‘मा हिंस्यात् सर्वानि भूतानि’—इस मन्त्रके द्वारा पशुहिंसाका निषेध किया गया है। मानव स्वभाव जब तक तामसिक और राजसिक रहता है, तब तक मनुष्य स्वभावतः स्त्री-संग, मांस-

भक्षण और मद्यपानमें आसक्त रहता है। मनुष्योंको उपरोक्त कार्योंमें प्रवृत्त कराना वेदोंका उद्देश्य नहीं, बल्कि उनका उद्देश्य तो उन्हें उन-उन कार्योंसे निवृत्त कराना है। उपरोक्त प्रकारके उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंका क्रमशः दमन करनेके लिए वेदोंमें मद्य, मांस और मैथुनकी व्यवस्था दी गई है। जैसे—अनियमित रूपमें मैथुन करनेवालोंके लिए विवाह द्वारा मैथुनकी व्यवस्था, निरंतर पशुबध करके मांसभक्षण करनेवालोंके लिए केवल यज्ञके समय ही मांसभक्षणकी व्यवस्था और विशेष-विशेष समयोंपर विशेष-विशेष क्रियाओंमें ही मद्यपानकी व्यवस्था। इन व्यवस्थाओंका विधिवत् पालन करनेसे मनुष्योंकी कुप्रवृत्तियाँ क्रमशः संकुचित होते-होते अंतमें सम्पूर्ण रूपसे निवृत्त हो जाती हैं। वेदोंमें पशुओंको बध करनेकी आज्ञा नहीं दी गई है; बल्कि उसका तात्पर्य इन शब्दोंमें देखिए—

“लोकं व्यवामिष-मद्य-सेवा
नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाह यज्ञ-
सुराग्रहैराशु-निवृत्तिरिष्टा ॥” (क)

(श्रीमद्भा० १।१।१११)

इस विषयमें वैष्णव लोगोंका सिद्धान्त यह है कि यदि तामसिक और राजसिक प्रवृत्तिवाले मनुष्य पशुबध करें, तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु सात्त्विक प्रवृत्तिवाले मनुष्योंका प्राणि-हिंसा करना कर्त्तव्य नहीं। जीवहिंसा पशु-वृत्ति है—

“अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।

फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥” (ख)

(श्रीमद्भा० १।१।१४०)

(क) संसारमें देखा जाता है कि मद्य, मांस और मैथुनकी ओर प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है तब उन्हें उनमें प्रवृत्त करनेके लिए विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और शौत्रामणिय यज्ञके द्वारा ही जो उनके सेवनकी व्यवस्था दी गई है, उसका अर्थ है—लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका नियन्त्रण। उनका मर्यादामें स्थापन। वास्तवमें उनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही श्रुतिको अभीष्ट है।

(ख) हाथों वालोंके बिना हाथ बाजे, पैरों वाले पशुओंके बिना पैर वाले (तृणादि) और बड़े-बड़े जीवोंके छोटे-छोटे जीव आहार हैं। इस प्रकार एक जीव दूसरे जीवके जीवनका कारण हो रहा है।

मनुस्मृतिका निर्णय भी सुस्पष्ट है—

“प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥” (क)

(म० १।२६)

न्यायरत्न—“अच्छा, पितृ-ऋणसे उद्धार होनेके लिए जो श्राद्धादि कर्म किये जाते हैं, उसमें वैष्णव लोग आपत्ति क्यों करते हैं ?”

वैष्णवदास—“कर्मोंमें आसक्त पुरुष जो कर्म-कारणके अनुसार श्राद्ध करते हैं, उसमें वैष्णवोंकी कोई आपत्ति नहीं है। शास्त्र तो केवल इतना ही निर्देश करते हैं—

देवर्षि-भूतास-नृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरय्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।१४१)

अर्थात् जो मनुष्य सब प्रकारसे भगवान्की शरणमें आ चुका है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे मुक्त हो जाता है। वह किसीके अधीन, किसीका सेवक अथवा किसीके बन्धनमें नहीं रहता। अतएव पितृ-ऋणसे उद्धार पानेके लिए कर्मकरणीय श्राद्ध आदि कर्मोंका विधान भगवान्के शरणागत भक्तोंके लिए नहीं है। उनके लिए भगवान्की पूजा करके पितरों को भगवत् प्रसाद अर्पणकरके बन्धु-बान्धवों केसाथ भगवत् प्रसाद पाना ही एक मात्र विधि है।

न्यायरत्न—“ऐसी अवस्था और अधिकार कबसे माना जाय ?”

वैष्णवदास—“जिस समयसे हरिनाम और हरि-कथामें श्रद्धा उत्पन्न हो जाय उसी समयसे वैष्णवका यह अधिकार उत्पन्न होता है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विधे त मावता ।

मत्कथा श्रवणादौ च श्रद्धा यावन्न जायते ॥ (ख)

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

न्यायरत्न—“मुझे आपके विचारोंको सुनकर बड़ी खुशी हुई। अगाध परिहृत्य और विचारोंकी सूक्ष्मता देखकर मुझे वैष्णवधर्ममें आज श्रद्धा उत्पन्न हो गई। भाई हरिहर ! शुष्कतर्कसे कोई लाभ नहीं। ये महामहोपाध्याय परिहृत्य हैं। शास्त्रोंके विवेचनमें अतिशय निपुण हैं। अपने व्यवसायकी रक्षाके लिए हम लोग जो कुछ भी क्यों न कहें, किन्तु निमाई परिहृत्य जैसा प्रतिभाशाली परिहृत्य और उत्तम वैष्णव इस वंगभूमिमें ही क्यों समस्त भारतमें कभी पैदा हुआ है या नहीं—संदेह है। चलो, अब उस पार चलें। दिन ढूब रहा है। अन्धकार होनेसे पार होने में कष्ट होगा।”

इतना सुनकर अध्यापकोंका दल ‘हरि बोल’, ‘हरि बोल’ कहकर प्रस्थान किया। इधर वैष्णव लोग भी भगवान् श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी जय देकर नृत्य करने लगे।

✽ दसवाँ अध्याय समाप्त ✽

(क्रमशः)

(क) (मैथुन, मांस और मद्यमें मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेपर भी) इन विषयोंसे निवृत्त होना ही महाफलदायक होता है।

(ख) कर्मके सम्बन्धमें जितनेभी विधि-निषेध हैं उनके अनुसार सभी तक कर्म करना चाहिए जब तक कर्म मय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय अथवा जबतक मेरी लीला-कथाओंके अवयव कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय।

प्रचार-प्रसंग

२४ परगना और मेदिनीपुरमें शुद्धभक्तिका
प्रचार—

श्रीगौड़ीय-वेदान्त समितिके अन्यतम प्रचारक तथा 'श्रीगौड़ीय पत्रिका' के कार्याध्यक्ष त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिविक्रम महाराज २४ परगनाके अन्तर्गत एकतारा, सरवेड़िया, होट्टगंज, डाइमण्ड हारवर, चाँदनगर, पाँचगाँव, श्रीकृष्णचन्द्रपुर, काशीनगर तथा मेदिनीपुरके भेटूरिया, पूर्वचक, पिछलदा और कल्याणपुर आदि स्थानोंमें श्रीमन्महा-प्रभुकी आचरित और प्रचारित शुद्ध-भक्तिका प्रचार कर गत ३ अषाढ़को श्रीउद्धारण गौड़ीय मठमें लौटे हैं। स्वामीजी महाराजके श्रीमद्भागवतके प्रवचनों, कीर्तनों तथा छाया-चित्र द्वारा भाषणोंसे उक्त स्थानोंकी जनता बड़ी प्रभावित हुई है। (त्रिदण्डि-स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त परमार्थी महाराज तथा कतिपय ब्रह्मचारी उनके साथ थे।)

आचार्यदेव द्वारा भेटूरिया (मेदिनीपुर) में
श्रीविग्रह-प्रतिष्ठा और विभिन्न स्थानोंमें
भक्तिका प्रचार—

विगत २८ ज्येष्ठको भेटूरिया-निवासी श्रीयुत ननीगोपाल दासाधिकारी तथा श्रीयुत संधिनीविलास दासाधिकारीके विशेष आग्रहसे परमहंस परिव्राजका-
चार्यवर्य १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव महाराज-
जी त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, श्रीमद्भक्ति वेदान्त परमार्थी महाराज तथा कतिपय ब्रह्मचारियोंके साथ भेटूरिया ग्राममें पधारे। यहाँ गत २६ ज्येष्ठको श्रीयुत ननीगोपाल द्वारा नव-निर्मित मन्दिरमें श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गन्धर्विका-गिरि-धारीजीकी विग्रह-प्रतिष्ठा खूब धूमधामके साथ संपन्न

हुई है। इसके उपलक्ष्यमें श्रीश्रीआचार्य देवका भाषण और श्रीमद्भागवतका प्रवचन हुआ। श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराजने छाया-चित्र द्वारा भाषण दिया। अन्तमें सर्व-साधारणको महाप्रसाद वितरण किया गया। भेटूरियामें श्रीविग्रह-प्रतिष्ठाके बाद आचार्यदेव पूर्वचक, पिछलदा और कल्याणपुरमें शुद्धभक्तिका प्रचार कर ३ अषाढ़को श्रीउद्धारण गौड़ीय मठमें पधारे हैं।

श्रीश्री रथ-यात्रा और विरह-महोत्सव

(क) श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ, चुँचुडामें—

गत १५ अषाढ़ शामको आधुनिक युगमें शुद्ध-भक्तिके मूल महाजन ॐ विष्णुपाद श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरकी तिरोभाव-तिथिके उपलक्ष्यमें ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव-महाराजके सभापतित्वमें एक विराट सभाका आयोजन किया गया था, जिसमें अनेक वक्ताओंने श्रील ठाकुरके अलौकिक चरित्र और शिवावलीके सम्बन्धमें भाषण दिये। श्रीश्री आचार्यदेवने अपने दीक्षान्त भाषणमें एक सारगर्भित भाषण दिया, जिसमें उन्होंने श्रील ठाकुरकी अतिमर्त्य जीवनी और शिवापर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। दूसरे दिन प्रातःकाल नगर-संकीर्तन और गुण्डिचा मन्दिर-मार्जन हुआ। १४ अषाढ़को श्रीश्री जगन्नाथ, सुभद्रा और बलदेवजी खूब समारोहके साथ रथपर विराजमान होकर गुण्डिचा मन्दिरमें पधारे। १८ अषाढ़को हेरा-पंचमी तथा २८ अषाढ़को पूर्ण-यात्राके उत्सव भी खूब धूम-धामसे मनाये गये। २७ जूनसे ७ जुलाई तक प्रतिदिन प्रवचन, कीर्तन तथा भाषण हुए हैं तथा अन्तिम दिन सर्व-साधारणको विविध-प्रकारका महा-प्रसाद वितरण किया गया।

—निजस्व संवाददाता